न्यायिक नियुक्तियां

भारत के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के प्रश्न पर हाल के वाद-विवाद का एक विवेचन

[illegible]

[illegible]

अगस्त १६७३ (PH 39)

मूल्य
साधारण संस्करण ३ रु
सजिल्द संस्करण ७ रु

तरुण सेनगुप्ता द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित।

प्रोपिदा

कोई भी उच्चतम न्यायालय और कोई न्यायपालिका समस्त जन-समुदाय की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद की प्रभुसत्तापूर्ण इच्छा के विषय में निर्णय नहीं दे सकती। अगर हममे इधर-उधर कुछ गलती होती है तो वह उसको बता सकती है, मगर अंतत, जहां तक जन-समुदाय के भविष्य का प्रश्न है, कोई न्यायपालिका उसके रास्ते में नहीं आ सकती। और अगर वह रास्ते में आती है तो आखिरकार सारा संविधान संसद की ही बनायी हुई चीज़ है। किन्तु हमें न्यायपालिका, उच्चतम न्यायालय और सारे देश के उच्च न्यायालयों का सम्मान करना चाहिए। बुद्धिमान लोगों की तरह उनका कर्तव्य यह देखना है कि किसी भावावेश के क्षण में, उत्तेजना के क्षण में, जनता के प्रतिनिधि भी गलत रास्ते पर न चले जायें, वे जा सकते हैं। न्यायालयों के एकांतिक वातावरण में, उन्हें ध्यान देना चाहिए कि ऐसा कोई काम न हो जो संविधान के विरुद्ध हो, देश के हित के विरुद्ध हो, व्यापकतर अर्थों में जन-समुदाय के विरुद्ध हो। इसलिए अगर ऐसी घटना हो जाय तो उन्हें इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहिए, मगर यह स्पष्ट है कि कोई अदालत, कोई न्याय-व्यवस्था, एक तीसरे सदन के रूप में, एक प्रकार से गलती सुधारने वाले तीसरे सदन के रूप में, काम नहीं कर सकती। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि न्यायपालिका इस सीमा के साथ काम करे।

प. जवाहरलाल नेहरू

अगर जनता को प्रभावित करने वाले जीवन्त प्रश्नों पर सरकार की नीति, उच्चतम न्यायालय के निर्णयों द्वारा अनुल्लंघनीय रीति से निर्धारित होगी तो व्यक्तिगत कार्यवाहियों के विषय में पक्ष-विपक्ष के साधारण मुकदमों में जिस क्षण वे किये जायेंगे, उस समय अमल में उस सीमा तक उस सुयोग्य अदालत के हाथों अपनी सरकार सौंप कर, जनता स्वयं अपनी शासक नहीं रह जायगी।

अब्राहम लिंकन

आम जनता के मस्तिष्क में संविधान की पवित्रता के परम्परागत सम्मान के साथ ऐसे लोगों के विषय में, विशेषकर वकीलों के विषय में, जो अपने लिए कभी गलत न होने का दावा करते हैं, एक अन्त स्फूर्त अविश्वास का भाव घुलमिल गया है। अमरीका के इतिहास में लगभग हर सशक्त राष्ट्रपति का किसी न किसी समय अदालत से टकराव हुआ है। जब ऐसा हुआ तो उसकी आपत्तियों को जनता के बीच आश्चर्यजनक रूप से व्यापक समर्थन मिलते देखा गया।

आर्थर श्लेसिंगर, जूनियर

प्राक्कथन

यह पुस्तिका उन कारणो की व्याख्या करने के लिए लिखी गयी है जिनके वश भारत सरकार ने अप्रैल १९७३ म सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त करने की पिछली रीति त्याग दी।

उस समय के न्यायाधीश ए एन राय को मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किये जाने के विरुद्ध विरोध का तूफान उठ खडा हुआ, विशेषकर वकील सघ के मेरे सहयोगियो की ओर स। किन्तु मेरा विश्वास है कि यह विरोध उन मन्तव्यो की जिनके कारण सरकार ने न्यायाधीश राय को नियुक्त किया और साथ ही, ऐस उच्च पद पर नियुक्तिया के प्रश्न पर जो बुनियादी आधार होने चाहिए उनकी भी समझ म कमी के कारण पैदा हुआ। इस पुस्तिका को लिखने म मेरा उद्देश्य है इन दोनो ही मामलो की उचित समझदारी के लिए सामग्री प्रस्तुत करना।

मैंने तथ्यो के उदाहरण देने म और साथ ही उनके प्रस्तुतीकरण म यथासम्भव सही बने रहने का प्रयत्न किया है। मैं वकील सघ म अपने सहयोगी और मित्र श्री राम पजवानी का आभारी हू जिन्होंने मेरे द्वारा प्रयुक्त सामग्री एकत्र करने म धैर्यपूर्वक श्रम किया और मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हू। किन्तु यदि तर्क म कोई गलतिया या कमजोरिया हो तो वे मेरी, सिर्फ मेरी ही है।

दिल्ली
५ मई १९७३

एस मोहन कुमारमगलम

क्रम

१. सविधान की व्यवस्थाए

भारतीय सविधान के अनुसार, मुख्य यायाधिपति समेत उच्चतम यायालय के सभी यायाधीशा की नियुक्तिया, सविधान की धारा १२४ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं। अनुच्छेद १२४ म व्यवस्था है

(१) भारत का एक उच्चतम यायालय होगा जा भारत क मुख्य यायाधिपति तथा, जब तक ससद विधि द्वारा और अधिक सख्या विहित नही करती तब तक, अन्य ७ से अनधिक यायाधीशा स मिल कर बनेगा।

(२) उच्चतम यायालय के, तथा राज्या क उच्च यायालया के ऐसे यायाधीशा स परामर्श करके जिनसे कि इस प्रयाजन के लिए करना राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम यायालय के प्रत्येक यायाधीश को [illegible] तथा वह यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक [illegible] की आयु प्राप्त न कर ले

परतु मुख्य यायाधिपति से भिन्न किसी अन्य यायाधीश [illegible] विषय म भारत के मुख्य यायाधिपति से सदा परामर्श [illegible]

परतु यह और भी कि—

(क) कोई यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित [illegible]

लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकेगा,

(ख) खड (४) म उपबधित रीति से कोई न्यायाधीश अपने पद स हटाया जा सकेगा।

(३) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप म नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक वह भारत का नागरिक न हो तथा—

(क) किसी उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयो का लगातार कम से कम ५ वर्ष तक न्यायाधीश न रह चुका हो, अथवा

(ख) *किसी उच्च न्यायालय का, अथवा ऐसे दो या अधिक न्याया*लयो का, लगातार कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो, अथवा

(ग) राष्ट्रपति की राय म पारगत विधिवेत्ता न हो।

स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद के अनुसार, जहा नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है यानी मत्रिमडल की सलाह पर काय कर रहे राष्ट्रपति को है, वहा राष्ट्रपति को छूट है कि सभी नियुक्तियो के विषय म उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश से सलाह ले, मगर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्तियो के मामले मे उन पर भारत के मुख्य न्यायाधिपति की सलाह लेने का शासनादिष्ट कत्तव्य डाला गया है।

किन्तु धारा १२४ की व्यवस्था का यह भी निहित अथ है कि यह शासनादिष्ट कत्तव्य सिफ उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति के मामले मे है और यह जिम्मेदारी नहीं डाली गयी है कि जब किसी नये मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति का प्रश्न हो तब अवकाश प्राप्त करने वाले मुख्य न्यायाधिपति स सलाह ली जाय। यह मामला जब हम अनुच्छेद १२६ की परीक्षा करते हैं तो और अधिक स्पष्ट हो जाता है

जब भारत के मुख्य न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा जब मुख्य न्यायाधिपति अनुपस्थिति या अन्य कारण स, अपने पद के कत्तव्यो का पालन करने म असमर्थ हो तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशो म स एक ऐसा जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिए नियुक्त कर उस पद के कत्तव्यो का पालन करेगा।

इस प्रकार जब कायकारी मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के मामले तक म वरिष्ठता के आधार पर नियुक्ति की पाबन्दी नहीं है तब स्थायी मुख्य न्यायाधि

पति की नियुक्ति के मामले में तो यह बात और भी अधिक सच बैठती है। अनुच्छेद १२६ बिल्कुल स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि जहां तक राष्ट्रपति की मर्जी का सवाल है, वह सिर्फ उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश तक ही सीमित है मगर वह न्यायाधीशों में से ही किसी को चुन सकते हैं और पदासीन न्यायाधीशों में से अत्यन्त जूनियर तक को नियुक्त करने में उनके लिए कोई रुकावट नहीं है। इसलिए जहां तक संविधान के अनुसार अधिकार का प्रश्न है, स्थिति निर्विवाद है। अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है, उनको छूट है कि कोई भी नियुक्ति करने में उसके मामले में वह किसी भी उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के किन्हीं न्यायाधीशों से सलाह लें, जहां तक न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रश्न है उन्हें मुख्य न्यायाधिपति से सलाह लेनी चाहिए, मगर जहां तक मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति का प्रश्न है उन पर किसी से भी सलाह लेने का दायित्व नहीं डाला गया है।

फिर भी यह सच है कि पिछले वर्षों में अमल के रूप में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के बाद के सीनियर न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधिपति का उत्तराधिकारी बनाया जाता रहा है।

एक मात्र अपवाद था न्यायाधीश इमाम का, जिन्हें अपने खराब स्वास्थ्य के कारण और स्पष्टतः न्यायालय की अध्यक्षता के मामले में असमर्थ होने के कारण उन्हें उच्च पद नहीं दिया गया, और इसलिए न्यायाधीश गजेन्द्रगडकर को मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया गया। इस प्रकार सारी स्थिति का सार यह निकलता है

(१) संविधान के सम्बन्धित अनुच्छेद की व्यवस्थाओं में राष्ट्रपति के नियुक्ति अधिकार की कोई सीमाएं नहीं निश्चित की गयी।
(२) अनेक वर्षों से अमल यह रहा है कि अगले सीनियर न्यायाधीश को नियुक्त कर दिया जाता था।

क्या वह अमल जारी रखना चाहिए और इस परम्परा को लगभग एक अपरिवर्तनशील नियम बना देना चाहिए—इस वक्त सरकार के सामने यही प्रश्न उपस्थित था।

यहीं पर विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट—न्यायिक प्रशासन पर उसकी रिपोर्ट—प्रासंगिक बन जाती है। आयोग में आज के कुछ अत्यधिक विख्यात कानूनी और न्यायिक नेता शामिल थे। उसमें उस समय के एटर्नी-जनरल एम सी सीतलवाड, जिनके कानूनी कार्यकौशल ने उनको चालिस वर्ष से अधिक समय से वकालत के उच्चतम क्षेत्र में बनाये रखा है, की अध्यक्षता...

बम्बई के उच्च न्यायालय मे उस समय के मुख्य न्यायाधिपति एम सी छागला, राजस्थान उच्च न्यायालय मे उस समय के मुख्य न्यायाधिपति और बाद मे उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के एन वांचू पजाब म उस समय के एडवोकेट जनरल और बाद म उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति एस एम सीकरी, भारत के वतमान उप राष्ट्रपति जी एस पाठक और उच्चतम न्यायालय के एक सीनियर एडवोकेट एन ए पालकी वाला जस विख्यात व्यक्ति सम्मिलित थे।

विधि आयोग को सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को पदोन्नति दिये जाने के अमल की पूरी जानकारी थी और इसलिए उन्होंने इस मामले म अपने "चिन्ता पूर्ण विचार" शब्दों का प्रयोग किया।

उन्होंने अपने विचार निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किये [1]

जब तब पद रिक्त होने पर वरिष्ठतम अनुवर्ती न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधिपति के लिए पदोन्नत करने की प्रथा चली आयी है। ऐसा लगता है कि ऐसी पदोन्नति एक अमली रीति बन गयी है। भारत के मुख्य न्यायाधिपति को जैसे उच्च और महत्वपूर्ण दायित्व पूरे करने होते हैं उनकी हम चर्चा कर चुके हैं। स्पष्ट है कि ऐसी प्रकृति के पद के उत्तराधिकार को मात्र वरिष्ठता द्वारा विनियमित नहीं किया जा सकता। भारत के मुख्य न्यायाधिपति के दायित्व पूरे करने के लिए न सिर्फ योग्य और अनुभववान न्यायाधीश की आवश्यकता है, बल्कि एक ऐसे क्षमतावान प्रशासक की भी जो समय-समय पर पैदा होने वाले जटिल प्रश्नों को सुलझाने म समर्थ हो जन-साधारण और विशिष्ट व्यक्तियों का चतुर परीक्षक हो और सर्वोपरि, सुदृढ़ स्वतन्त्रता तथा महान व्यक्तित्व वाला व्यक्ति हो जो समय पडने पर न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का रक्षक भी बन सके। यह सर्वमान्य है कि एक सफल मुख्य न्यायाधिपति के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, वे किसी भी प्रतिभासम्पन्न और सुयोग्य न्यायाधीश बनाने वाले विशेष गुणों से भिन्न होते हैं। इसलिए इस पद के लिए चयन करने म इन विशेषताओं का ध्यान रखना आवश्यक है वे उनसे मूलत भिन्न होनी चाहिए जिनसे उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति निर्धारित की जाती है। अत हमारी राय म, भारत के मुख्य न्यायाधिपति के रिक्त पद की पूर्ति करने के प्रश्न को उन विशेषताओं का सर्वोपरि ध्यान रखकर हल किया जाना चाहिए जिनका हम ऊपर उल्लेख

1 भारत का विधि आयोग 14वीं रिपोर्ट, पृष्ठ 32 40

कर चुके है। सम्भव है कि वरिष्ठतम अनुवर्ती न्यायाधीश इन आवश्यकताओं को पूरा करता हो। अगर ऐसा हो तो उसको इस पद की पूर्ति के लिए नियुक्त किए जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मगर बहुधा ऐसा नहीं होगा। इसलिए यह स्वस्थ परम्परा डालना आवश्यक है कि मुख्य न्यायाधिपति के पद की नियुक्ति किन्हीं विशेष विचारों पर आधारित हो और यह पद प्रथानुसार वरिष्ठतम अनुवर्ती न्यायाधीश को ही न दिया जाय। अगर ऐसी परम्परा स्थापित हो जाती है तब यदि वरिष्ठतम अनुवर्ती न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त नहीं किया जायगा तो उसको उस न्यायाधीश पर कोई कलंक नहीं माना जायगा। हम अन्यत्र सुझाव दे रहे हैं कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के मामले में ऐसी ही परम्परा डाली जाय। एक बार जब यह परम्परा स्थापित हो जायगी, तब नियुक्तियों के लिए जो लोग जिम्मेदार हैं उनका कर्तव्य होगा कि वे उस उच्च पद के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति को, अगर आवश्यक हो तो न्यायालय के बाहर के व्यक्तियों में से चुनें। उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधिपतियों, उच्च न्यायालयों के प्रखर प्रतिभा से सम्पन्न अनुवर्ती न्यायाधीशों तथा वकालतखाने के विख्यात वरिष्ठ सदस्यों में नियुक्ति का विस्तृत क्षेत्र मिल सकता है।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि संविधान की व्यवस्था के अतिरिक्त, सार्वजनिक नीति का भी तकाजा है कि भारत के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के अधिकार का उपयोग करने में सरकार को उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों में से और बाहरी व्यक्तियों में सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति को इस उच्च पद के लिए चुनना चाहिए और नियम के रूप में वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति के सिद्धान्त का पालन नहीं करना चाहिए।

निस्सन्देह यह सच है कि विधि आयोग की सिफारिशें बहुत पहले १९५८ में प्रकाशित हुई थीं और इन १४ वर्षों में वरिष्ठता के आधार पर नियुक्ति के सिद्धान्त में हटने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। लेकिन यह कोई सारभूत महत्व की बात नहीं हो सकती क्योंकि जो रीति एक दशक से चली आयी थी और जिसको उस समय विधि आयोग ने त्रुटिपूर्ण तथा गलत माना था, वह सिर्फ इसलिए सही नहीं बन जाती कि उसका एक और दशक तक पालन किया गया।

बहरहाल न केवल उन कारणों से जो विधि आयोग ने दिये हैं बल्कि कुछ अन्य तथा और भी वजनदार कारणों से भी निश्चय ही समस्त तर्क ठोस

रूप म विधि आयाग के दृष्टिकोण के पक्ष म जाना है। किसी देश के मुख्य न्यायाधिपति का पद किसी व्यक्ति को अपनी नियुक्ति की तारीख के बल पर अवकाश प्राप्त करने वाले मुख्य न्यायाधिपति के बाद सर्वाधिक वरिष्ठ होने की आकस्मिक घटना के कारण नहीं मिल सकता। निश्चय ही जब किसी उम्मीदवार को देश के सर्वोच्च न्यायिक पद पर बैठने के लिए चुना जायगा तब उसके दिल और दिमाग की और अधिक विशेषताओं, एक ओर न्यायालय का नेतृत्व करने की सामर्थ्य तथा दूसरी ओर जनता की इच्छा-आकांक्षाओं का समझने की क्षमता, और इन सब का ध्यान रखते हुए आखिर कानून संविधान, की व्याख्या करने की योग्यता का ध्यान रखना पड़ेगा।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है हमारे देश की स्थिति की ठोस परिस्थितियों म न्यायालय को नेतृत्व प्रदान करने की मुख्य न्यायाधिपति की क्षमता, एक नय समाज के निर्माण के लिए आगे बढ़ने के अभियान म देश की सहायता करने के कठिन कर्तव्य का पालन करने म न्यायालय का नेतृत्व करने की सामर्थ्य।

इसम कोई सन्देह नहीं हो सकता कि एक ओर न्यायालय तथा दूसरी ओर संसद के बीच सम्बन्ध पिछले छः वर्षों से अधिक सुखद नहीं रहा है। और यह जीवन आवश्यकता है कि यह सम्बन्ध एक स्थायी और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो जो भारतीय संविधान को क्रियान्वित करने वाली इन दोनों संस्थाओं की भूमिकाओं की समझदारी और उनके बीच पारस्परिक सम्मान पर आधारित हो।

●

२. उच्चतम न्यायालय— १९६७-१९७०

इसलिए अब यहा परीक्षा करना आवश्यक है कि विगत छः वर्षों म न्यायालय म क्या कुछ घटित हुआ है और अगर सविधान की इन उच्च संस्थाओ म उचित तथा स्थायी सम्बन्ध स्थापित किये जाने हैं तो हमे आगामी काल म न्यायालय म किस प्रकार का नेतृत्व उपलब्ध करना चाहिए। केवल इसी प्रकार अपने देश के उच्चतम न्यायिक पद की नियुक्ति के मामले मे सही निर्णय तक पहुचने के लिए उचित पृष्ठभूमि उपलब्ध हो सकती है।

पिछले छः वर्षों के, न्यायपालिका और ससद के बीच लगभग टकराव के और कानून के मामले म मतिभ्रम तथा अनिश्चितता के दुर्भाग्यपूर्ण वर्षों के, अनुभव को समझा जाना चाहिए और उससे सही निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए। न सिर्फ यह कि उच्चतम न्यायालय ने सरकार या ससद के दृष्टिकोण के विरुद्ध स्थितिया अपनायी बल्कि इससे अधिक यह कि न्यायालय ने सारी कानून व्यवस्था को और विशेषत सवैधानिक कानून को, स्वय अपने फैसलो को लगातार पलट कर अनिश्चितता की स्थिति म डाल दिया।

उच्चतम न्यायालय म यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति वास्तव मे गोलकनाथ मुकदमे[1]

१ १९६७ (२) उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ७६२

स प्रारम्भ होती है। उस मुकदमे मे मुख्य प्रश्न यह था कि क्या ससद को सविधान के भाग ३ का, यानी जिस भाग म मूल अधिकार हैं, सशोधित करने का हक है या नहीं। मूल अधिकारो मे सशोधन करने के ससद के अधिकार को दो पिछले मुकदमो म चुनौती दी जाचुकी थी, पहले, १९५२ म सज्जरी प्रसाद के मुकदमे[1] म, जब उस समय के मुख्य न्यायाधिपति हरिलाल कानिया की प्रधानता म एक बेंच ने, जिसम अनेक विद्वान न्यायाधीश शामिल थे (उनम से तीन बाद म उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति बने) एक मत से इस विचार को सही माना कि सविधान मे सशोधन करने के ससद के *अधिकार-क्षेत्र म मूल अधिकारो समेत प्रत्येक अनुच्छेद आता है बशर्ते* कि जो कार्य विधि निर्धारित की गयी है उसका पालन किया जाय।

इसके बाद यह मामला एक बार फिर उच्चतम न्यायालय म १९६५ म सज्जन सिंह के मुकदमे[2] म उठा जब मुख्य न्यायाधिपतियो म से एक अत्यन्त सम्मानित मुख्य न्यायाधिपति डा पी बी गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता म एक बेंच ने दो के मुकाबले तीन के बहुमत से सज्जरी प्रसाद के मुकदमे के फैसल की पुन पुष्टि की।

सज्जन सिंह के और साथ ही सज्जरी प्रसाद के, मुकदमे का फैसला इस आधार पर किया गया था कि सविधान का सशोधित करने सम्बन्धी ससद का अधिकार सविधान के अनुच्छेद ३६८ म है। इस अनुच्छेद का पाठ उस समय जैसा था, निम्नलिखित था

सविधान का सशोधन

३६८ इस सविधान के सशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को ससद के किसी सदन म पुरस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-सख्या के बहुमत स तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के दो तिहाई स अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जायगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात विधेयक के निबधनो के अनुसार सविधान सशोधित हो जायगा

परतु यदि ऐसा कोई सशोधन—

(क) अनुच्छेद ५४, अनुच्छेद ५५, अनुच्छेद ७३, अनुच्छेद १६२, या अनुच्छेद २४१ म, अथवा

१ १९५२ उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ८९
२ १९६५ (१) उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ९३३

१३ (१) इस सविधान के प्रारम्भ होने स ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र मे सब प्रवृत्त विधिया उस मात्रा तक शून्य होगी जिस तक कि व इस भाग' के उपबधो स असगत हैं।

(२) राज्य ऐसी कोई विधि नही बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिय अधिकारो को छीनती या न्यून करती हो और इस खड के उल्लघन म बनी प्रत्येक विधि उल्लघन की मात्रा तक शून्य होगी।

न्यायालय ने जिस तक का पक्ष लिया, वह यह था कि अनुच्छेद १३ मे "विधि" शब्द म न सिर्फ साधारण कानून, बल्कि सवैधानिक कानून भी शामिल है। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि सविधान को सशोधित करने वाला कानून भी अनुच्छेद १३ के अथ के अतगत एक 'विधि" (कानून) ही होगा और इसलिए अनिवायत उसको इस आधार पर कि उसस मूल अधिकारो का उल्लघन होता है, चुनौती दी जा सकती है। मगर मूल अधिकारो म सशोधन करने वाला प्रत्येक कानून अपनी प्रकृति के अनुसार मौजूदा मूल अधिकारो का अतिक्रमण या उल्लघन करता है। इसलिए अनिवायत यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल अधिकारो मे सशोधन करने वाला कोई भी सशोधन वैध नही हो सकता और इसलिए मूल अधिकार अनुच्छेद ३६८ म दिये गये सशोधन अधिकार के क्षेत्र स बाहर थे।

छै न्यायाधीशो का यही दृष्टिकोण था जो ऊपरी तौर पर किसी हद तक असगत लगता है। आखिरकार जिस किसी सवैधानिक सशोधन म भाग ३ (सविधान मे मूल अधिकारो वाला भाग) म परिवतन की व्यवस्था होगी, वह अनिवायत मूल अधिकारो स टकरायगा। इसलिए गोलकनाथ के मुकदमे म उच्चतम न्यायालय के निणय से मूल अधिकारो को सदा के लिए सशोधन की परिधि स बाहर रख दिया गया। इससे मूल सविधान निर्माताओ ने जैसे मूल अधिकार तैयार किय थे, उनको लगभग अक्षुण्ण बना दिया गया और सविधान के जनको के उत्तराधिकारियो का उन मूल अधिकारो मे सशोधन या परिवधन करने के अवसर स वचित कर दिया गया, भले ही अनुभव यह सिद्ध करता हो कि उनम सशोधन करने की आवश्यकता है।

और यह नोट किया जाना चाहिए कि गोलकनाथ मुकदमे मे फैसला पाच के मुकाबले छ बोटो स किया गया था, जो न्यायालय के पिछले दो निणयो के बदलने को सही ठहराने के लिए बहुत मामूली बहुमत है।

न्यायालय म अगली बडी कानूनी लडाई बको के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर

१ भाग ३ सविधान का वह भाग जिसमे मूल अधिकार दिये गये है

लडी गयी।[1] जिस किसी ने भी भारतीय राजनीतिक घटना चक्र पर बारीकी से निगाह डाली है, वह इनकार नहीं कर सकता कि जुलाई १९६९ म बका का राष्ट्रीयकरण करने सम्बधी सरकार का फैसला गत एक चौथाई शताब्दी के भारतीय राजनीतिक आर्थिक जीवन मे एक विभाजक रेखा है। और जब यह फैसला लिया गया तब राष्ट्रीयकरण कानून म पिछले मालिको के लिए मुआवजा देना उच्चतम न्यायालय के उस निर्णय को ध्यान म रख कर किया गया था जो निर्णय गुजरात राज्य बनाम शान्तिलाल मगलदास[2] के मुकदमे मे लिया गया था।

और विवादग्रस्त प्रश्नो की समझ तभी हासिल की जा सकती है जब उस अनुच्छेद के, यानी अनुच्छेद ३१ उपबध २ के इतिहास को थोडा पीछे जाकर देखा जाय जिसकी उस मुकदमे म व्याख्या की गयी थी।

सविधान मे अनुच्छेद ३१, उपबध २, मूल रूप मे जैसा था, उसका पाठ निम्नलिखित है

सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन

३१ (२) कोई स्थावर और जगम सम्पत्ति जिसके अन्तर्गत किसी वाणिज्यिक या औद्योगिक उपक्रम मे या उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी मे कोई अश भी है ऐसी विधि के अधीन जो ऐसा कब्जा या अर्जन करने का प्राधिकार देती है, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए कब्जाकृत या अर्जित तब तक नही की जायगी जब तक कि वह विधि कब्जाकृत या अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर का उपबध न करती हो और या तो प्रतिकर की राशि को नियत न कर दे या उन सिद्धांतो और रीति का उल्लेख न कर दे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है।

किन्तु १९५४ म उच्चतम न्यायालय ने बेला बनर्जी[3] के मुकदमे म जो फैसला दिया था, उसमें न्यायालय ने मत प्रकट किया था कि उपरोक्त अनुच्छेद म जिस 'प्रतिकर" (मुआवजा) शब्द की व्यवस्था की गयी है उसका अर्थ है अधिग्रहण की गयी किसी भी सम्पत्ति की पूरी बाजारी कीमत। सविधान निर्माताओ ने जब उपरोक्त अनुच्छेद की रचना की थी तब उन्होने 'प्रतिकर" शब्द का अर्थ एक ऐसी रकम समझा था जो ससद की नजर मे उस सम्पत्ति के लिए न्यायसगत

१ १९७० (३) उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ५३०
२ १९६६ (३) उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ३४१
३ १९५४ उच्चतम न्यायालय अधिनिर्णय ५५८

मे सावधिक रकम देने की गारंटी संविधान के अनुच्छेद २९१ से जारी रहती है, मगर यह मूलत राजनीतिक प्रकृति की है जैसा कि संविधान के अनुच्छेद ३६३ मे सुरक्षित है और इस गारंटी का दायित्व किसी म्युनिसिपल न्यायालय से लागू नहीं कराया जा सकता। (पृ २०८, जोर मेरा)।

इस अंश से, जो मैंने उस्मान अली के मुकदमे से उद्धृत किया है स्पष्ट प्रकट होता है कि राजाओ की मान्यता और प्रिवी पर्स पाने का उनका अधिकार दोनो ही मूलत राजनीतिक प्रकृति के अधिकार हैं तथा उनको "किसी म्युनिसिपल न्यायालय से लागू" नही कराया जा सकता। अगर यही सही कानूनी स्थिति थी तो यह स्पष्ट था कि मान्यता वापस लेने और प्रिवी पर्स बंद करने सम्बन्धी सरकार का अधिकार सारत राजनीतिक था और उसकी वैधता पर किसी न्यायालय मे विचार नही किया जा सकता था।

फिर भी जब राजाओ ने मान्यता वापस लेने के आदेश को चुनौती दी तो न्यायालय ने उस्मान अली के मामले के साथ "विभेद" किया और सरकारी आदेश को रद्द कर दिया।

निश्चय ही असली शिकायत यह नही है कि न्यायालय ने कानून अवैध किये या सरकारी आदेश रद्द किये। न्यायालय गोलकनाथ मुकदमे मे फैसला किये जाने के पहले और बाद मे इस प्रकृति के कई फैसले कर चुका था। और इस मामले मे किसी भी तरह की शिकायत नही की जा सकती और न की गयी। गोलकनाथ, बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रिवी पर्सों के मामले मे शिकायतें यथार्थत इस तथ्य से पैदा हुई कि जब सरकार न्यायालय के मौजूदा फैसलो के आधार पर कार्यपालिका की ओर से कोई आदेश जारी करती है या कानून बनाती है तो न्यायालय ऐसे कानून या आदेश को अपने पिछले फैसलो को उलट-पलट कर रद्द कर देता है।

गोलकनाथ मुकदमे मे उसने शंकरी प्रसाद और सज्जन सिंह दोनो के मुकदमो मे दिये गये न्यायालय के फैसले रद्द कर दिये।

बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले मे उसने शान्तिलाल मंगलदास के मुकदमे के साथ 'विभेद' किया।

राजाओ के मामले मे उसने उस्मान अली के मुकदमे के साथ 'विभेद' किया।

मुकदमो के इस लगातार क्रम का फल यह था कि कानून की स्थिति के विषय मे पूर्णतया अनिश्चितता फैल गयी और देश का कानून ठीक ठीक क्या है

इसके विषय म अनिश्चितता होने से आधक हानिकारक और भ्रामक कोई दूसरी बात नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त इन तीना ही फैसला म एक जीवन्त कानून, जो सरकार की समाजवादी नीतिया के मम म स्थिति थे, दाव पर चढ़ाय गय। गोलकनाथ मुकदमे म भूमि सुधार के कानूना की वैधता का प्रश्न था। बैंक राष्ट्रीयकरण हमारे देश की वित्तीय व्यवस्था का इस प्रकार पुनर्निर्माण करन की दिशा म एक बडा कदम था जिसस कि उसको हमार देश म इजारेदारा के नियत्रण से निकाला जा सके और निर्णायक रूप से उस सरकार के नियत्रण और नेतृत्व मे लाया जा सके। और, राजाओ की मान्यता का वापस लिया जाना पुरानी साम्राज्यवाद परस्त सामन्ती व्यवस्था के अवशेषो के उन्मूलन के लिए अन्तिम चोट थी—समाजवाद और समानता के लिए चोट थी।



३. २४वां और २५वां सशोधन

एक ओर कानून के बारे म यह अनिश्चितता और दूसरी ओर हमारे देश म सामाजिक रूपान्तरण के माग म खडी हुई बाधाओ को हटाने की आवश्यकता क कारण सविधान म २४वें और २५वें सशोधन किये गये। इन सशोधना से दो उद्देश्य पूरे करने के प्रयत्न किये गये

(१) यह व्यवस्था करना कि ससद का सशोधन अधिकार इतना व्यापक हो कि वह सविधान के प्रत्यक भाग और प्रत्येक अनुच्छेद म सशोधन कर सके।

(२) उसके लिए यह सम्भव बनाना कि वह सामाजिक निर्माण की सारी प्रमुख योजनाओ को हाथ म ले सके जिनके आधार पर, न्यायालयो म कानूनी लडाइया द्वारा रोके गये बिना भारतीय समाज का समाजवादी रूपान्तरण उपलब्ध किया जा सके।

इसलिए इन दो सशोधना म निम्नलिखित क्षेत्र लिये गये

अनुच्छेद ३६८ को जिसम सशोधन सम्बन्धी अधिकार दिये गये है और आगे सशोधित किया गया ताकि बिना सदेह यह स्पष्ट हो जाय कि इस अधिकार के उपयोग द्वारा सविधान के प्रत्येक अनुच्छेद और भाग म सशोधन किया जा सकता है। सशोधित अनुच्छेद का पाठ इस प्रकार है

संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया

३६८ (१) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी संसद अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन, इस अनुच्छेद में दी गयी प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(२) इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक संसद के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के [illegible] से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जायगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबंधनों के अनुसार संशोधित हो जायगा

परंतु यदि ऐसा कोई संशोधन—

(क) अनुच्छेद ५४, अनुच्छेद ५५, अनुच्छेद ७३, अनुच्छेद १६२, या अनुच्छेद २४१ में, अथवा

(ख) भाग ५ के अध्याय ४, भाग ६ के अध्याय ५, या भाग ११ के अध्याय १ में, अथवा

(ग) सप्तम अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा

(घ) संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा

(ङ) इस अनुच्छेद के उपबंधों में,

कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबंध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किये जाने से पहले उस संशोधन के लिए राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधानमंडलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

(३) अनुच्छेद १३ की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किये गये किसी संशोधन को लागू न होगी।

सबसे पहले हाशिये पर दी गयी टिप्पणी के संशोधन को नोट करना महत्वपूर्ण है क्योंकि पहले की टिप्पणी सिर्फ "संविधान के संशोधन की प्रक्रिया" थी और गोलकनाथ मुकदमे में बहुमत ने इसी को आधार बना कर [illegible] था कि इसमें सिर्फ प्रक्रिया बतायी गयी है उसकी शक्ति नहीं दी गयी है।

दूसरे, अनुच्छेद ३६८ में एक नया खण्ड जोड़ा गया जिससे अनुच्छेद ३६८ (१) के मातहत संविधान में किये गये किसी संशोधन पर अनुच्छेद १३

लागू न होना स्थापित किया गया। यह भी गोलकनाथ मुकदमे के केन्द्रीय तक को काटने के लिए किया गया जिसमे कहा गया था कि सविधान मे कोई सशोधन भी अनुच्छेद १३ के अर्थ मे एक कानून है और इसलिए, उसको मूल अधिकारों के अनुरूप होना पडेगा।

२५व सशोधन के प्रथम भाग का सारतत्व था "प्रतिकर" शब्द की जगह "राशि' शब्द का रखा जाना। इस प्रकार नया अनुच्छेद ३१ (२), सशोधन के बाद, इस तरह हो गया

> कोई सम्पत्ति सावजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवायत अर्जित या अधिगृहीत की जायगी जो सम्पत्ति के अजन या अधिग्रहण का, ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाय या जो ऐसे सिद्धातो के अनुसार अवधारित की जाय और ऐसी रीति से दी जाय जो उस विधि मे विनिर्दिष्ट हो, उपबध करती है, और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय म इस आधार पर आपत्ति नही की जायगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नही है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जा कर अन्यथा दिया जाना है
>
> परतु अनुच्छेद ३० के खड (१) म निर्दिष्ट किसी अल्पसख्यक वग द्वारा स्थापित और प्रशासित किसी शिक्षा-सस्था की सम्पत्ति के अनिवाय अजन के लिए उपबध करने से सबद्ध विधि बनाते समय राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अजन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाय वह ऐसी हो जो उस खड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निबधित या निराकृत न करे।

उद्देश्य स्पष्ट था प्रथमत उच्चतम न्यायालय ने 'प्रतिकर शब्द का राज्य द्वारा अधिग्रहण की जाने वाली सम्पत्ति के बाजारी मूल्य के अर्थ म जिस तरह व्याख्यायित किया था, उससे बचना, और दूसरे अदा की जाने वाली 'राशि (सशोधित अनुच्छेद म मूल महत्व का शब्द) के परिमाण का फसला पूरी तरह राज्य पर छोडना और उसको न्यायिक पुनरीक्षण के बाहर कर देना।

अनुच्छेद ३१ ग एक नया अनुच्छेद था, जो इस प्रकार है

> अनुच्छेद १३ मे किसी बात के होते हुए भी कोई विधि, जो अनुच्छेद ३९ के खड (ख) या खड (ग) म उल्लिखित तत्वो को सुनिश्चित करने के

लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर न्याय न समझी जायगी कि वह अनुच्छेद १४ अनुच्छेद १६ या अनुच्छेद ३१ द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है, और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती

परतु जहा एसी विधि किसी राज्य के विधानमडल द्वारा बनायी जाय वहा इस अनुच्छेद के उपबध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किय जाने के पश्चात, उसकी अनुमति न मिल गयी हो।

[काले अक्षरो मे दिय गये अश को धर्माधिराज केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य की १६७२ की प्रादेश-याचिका (रिट पिटीशन) न १३५ म न्यायालय ने बहुमत से अवैध घोषित कर दिया था (२४ ४ १६७३)]

इस अनुच्छेद के अन्तगत हमारे सविधान के इतिहास म पहली बार एक निदेशक सिद्धात का मूल अधिकारो स ऊपर रखा गया।

अनुच्छेद ३६ (ख) और (ग) इस प्रकार है

राज्य अपनी नीति का विशेषतया एसा सचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

•

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियत्रण इस प्रकार बटा हो कि जिस स सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो,

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिस से धन और उत्पादन साधनो का सवसाधारण के लिए अहितकारी केंद्रण न हो,"

ये दो अनुच्छेद सरकार को भारतीय समाज के समाजवादी रूपान्तरण की दिशा म आगे बढाने का निर्देश देते है। नय अनुच्छेद ३१ (ग) को जारी कर ससद ने यथाथन यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि व्यक्तियो के अधिकारो (जो तत्वत मूल अधिकार हैं) को अनुच्छेद ३६ (ख) और (ग) के अन्तगत सविधान के इस निदेश के कार्यान्वयन के रास्ते मे खडा नही होने दिया जायगा।

सविधान म ये दो सशोधन (२४वें और २५वें) गत वष (१६७२) के अतिम भाग मे उच्चतम न्यायालय मे सुनवाई के लिए पेश हुए। और ६६ काय दिवसो तक सुनवाई के बाद, जो न्यायालय के इतिहास मे सबसे लबी

अवधि है, २४ अप्रैल १९७३ को, यानी मुख्य न्यायाधिपति सीकरी के पद मुक्त होने से ठीक दो दिन पहले, निर्णय सुनाये गये।[1]

ये निर्णय जो कुल मिला कर ग्यारह थे, एक बार फिर मिश्रित किस्म के निकले—स्पष्टता और मतिभ्रम के मिश्रण।

एक ओर छै न्यायाधीशों ने, न्यायाधीश राय के नेतृत्व मे (वह उस समय न्यायाधीश थे), स्पष्टत व्यवस्था दी है

(१) गोलकनाथ मुकदमे म गलत फैसला दिया गया था और वह र किया जाता है।

(२) सविधान म सशोधन करने के विषय मे ससद की शक्ति की कोई सीमा नही है, और चूकि अनुच्छेद ३६८ म बतायी गयी प्रक्रिया का सख्ती से पालन किया गया है इसलिए २४वें और २५वें सशोधन पूणतया वध हैं।

(३) अनुच्छेद ३१ ग म न्यायालय के क्षेत्राधिकार को समाप्त करने की जो व्यवस्था की गयी है, जिसके जरिय ससद ने इस बात के कि किसी विषयक विशेष मे अनुच्छेद (ख) और (ग) को प्रभावी बनाया गया है या नही, न्यायिक पुनरीक्षण पर जो पाबन्दी लगायी है वह भी वैध है।

किन्तु जहा तक अन्य फैसला का सम्बन्ध है, उनम कोई सुसगतता या स्पष्टता अथवा कोई समान सूत्र पाना कठिन है। निश्चय ही उनमे से चार न्यायाधीश पहले छै न्यायाधीशो से इस मत पर सहमत थे कि गोलकनाथ मुकदमे मे फैसला गलत दिया गया था, मगर सातो न्यायाधीश यह मत प्रकट करते प्रतीत होते है कि अनुच्छेद ३६८ मे सशोधन की शक्ति, जिस तरह वह २४वें सशोधन से सशोधित किया गया है, इतनी विस्तृत नही कि वह अपनी सीमा म ऐसे सशोधनो को ग्रहण कर सके जिनसे सविधान का बुनियादी ढाचा और सरचना निराकृत" (रद्द) हो जाय। मगर इस समान तर्क के बावजूद, इन पाच अलग अलग फैसलो को पढने से यह पता नही चलता कि निश्चित रूप स कौन सा बुनियादी ढाचा और सरचना है जो इन न्यायाधीशो की राय म ससद की सशोधन शक्ति से ऊपर और बाहर है तथा कौन से ऐसे अनुच्छेद हैं जिनम सशोधन नही किया जा सकता।

निश्चय ही, उनमे से न्यायाधीश खन्ना स्पष्ट कहते हैं कि मूल अधिकार और सम्पत्ति अधिकार सविधान के 'बुनियादी ढाचे और सरचना' का अग नही हैं। और अगर न्यायाधीश राय के नेतृत्व वाले छै न्यायाधीशो के दृष्टिकोण

१ प्रादेश याचिका न १३५, १९७२ धर्माधिराज केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य, २४ ४ १९७३

के साथ उनका दृष्टिकोण जोड दिया जाय, ता सविधान के भाग ३ म सशोधन के विषय मे ससद का अधिकार स्पष्टत मान्य होता है और गोलकनाथ मुकदमा दफन हो जाता है।

मगर न्यायाधीश हगडे और मुखर्जी फरमाते हैं कि मूल अधिकार "सशोधित" किये जा सकते हैं, 'रद्द" नहीं किये जा सकते, हालांकि उनके लम्बे फैसले म यह पता करना कठिन है कि "सशोधन" और "रद्द' के बीच कहा रेखा खीची जाय।

सशोधन के इस प्रश्न पर इन दो न्यायाधीशो का सार निम्नलिखित है

हमे विश्वास हो गया है कि ससद को सविधान के बुनियादी तत्व या मूल पहलुओ को, जैसे भारत की प्रभुसत्ता, हमारी राज्य व्यवस्था का जन तान्त्रिक चरित्र, देश की एकता, सविधान के अतगत व्यक्ति के लिए आरक्षित की गयी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सारभूत पहलू रद्द करन या उनका सारतत्व छीनने का कोई अधिकार नही है। न ही ससद को एक लोक-कल्याणकारी राज्य तथा न्यायपरक समाज का निर्माण करने सम्बन्धी निदेश को रद्द करने का अधिकार है।

इसलिए जो बात स्पष्ट नहीं है उसको और अधिक अस्पष्ट बनाने के लिए विद्वान न्यायाधीशो न आग जोडा

ये सीमाए केवल उदाहरणात्मक हैं, सर्वांगपूर्ण नही,

इस प्रकार न्यायाधीश लोग किसी भी समय अपनी मर्जी के अनुसार एसी बातें जोड सकते हैं जिनको व सविधान के मूल तत्वो का अग महसूस करें।

और तब विन न्यायाधीशो ने निष्कर्ष निकाला

मगर, इन सीमाओं के बावजूद, इस पर सदेह नही किया जा सकता कि सशोधन अधिकार एक व्यापक अधिकार है और वह सविधान के प्रत्येक अनुच्छेद तथा प्रत्येक भाग पर लागू होता है। (जोर मेरा)।

मेरा ख्याल है कि यह बात न्यायपूर्वक कही जा सकती है कि न्यायाधीश हगडे और मुखर्जी द्वारा अपनाये गय दृष्टिकोण स स्थिति उससे भी अधिक बिगड गयी जितनी कि गोलकनाथ मुकदमे के फैसले के कानून बन जाने के समय थी। गोलकनाथ फैसले म उच्चतम न्यायालय ने कम से कम यह मत तो

प्रकट किया था कि मूल अधिकारों को छोड कर शेष प्रत्येक अनुच्छेद म संशोधन किया जा सकता है—यह स्थिति सुनिश्चित थी और इसी को सुधारने के लिए २४वा संशोधन पारित किया गया था।

मगर अब एक नयी अवधारणा आ गयी—मूल तत्वो या बुनियादी पहलुओ की अवधारणा, जिसम मूल अधिकार शामिल प्रतीत होते है और साथ ही उसम हर अन्य बात भी शामिल हो सकती है जिसके विषय म न्यायाधीश महसूस करें कि उसको शामिल किया जाना चाहिए। और ये मूल तत्व भी संशोधित किये जा सकते हैं बशर्ते कि उन्ह 'रद्द" न किया जाय या उनका "सारतत्व" न 'छीना जाय।'

न्यायाधीश शेलत और ग्रोवर ने भी कोई भिन्न दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उन्होंने ऐसी बातो की सूची शुरू की जिनको वे "संवैधानिक ढाचे के मूल तत्व' कहते है और चेतावनी दी कि "इन्ह सूचीबद्ध नही किया जा सकता, लेकिन उदाहरण रूप म प्रस्तुत किया जा सकता है।' और फिर उन्होने निम्नलिखित सूची दी

(१) संविधान की सर्वोच्चता।
(२) सरकार का जनतांत्रिक और संसदीय स्वरूप तथा देश की प्रभुसत्ता।
(३) संविधान का धर्मनिरपेक्ष और संघीय चरित्र।
(४) विधानमंडल कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारो का सीमाकन।
(५) भाग ३ मे दिये गये मूल अधिकारो और विभिन्न स्वतंत्रताओ द्वारा आरक्षित व्यक्ति का सम्मान तथा भाग ४ म सम्मिलित कल्याणकारी राज्य के निर्माण का निर्देश।
(६) राष्ट्र की एकता और अखडता।

यहा भी हम एक अस्पष्ट स्थिति म छोड दिया गया है जो न्यायाधीशो की इस चेतावनी से कि ये छै सूत्र उदाहरणात्मक मात्र हैं सर्वांगपूर्ण नही और अधिक अस्पष्ट हो गयी है।

और फिर न्यायाधीश हेगडे और मुखर्जी की ही तरह न्यायाधीशो का अंतिम उपहार यह है कि अनुच्छेद ३६८ के अधिकार इतने काफी विस्तृत हैं कि संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद के संशोधन की इजाजत मिलती है जब तक कि उसके मूल तत्व रद्द नही किये जाते या उनकी अस्मिता नहीं छीनी जाती —इसका अर्थ जो भी हो।

मुख्य न्यायाधिपति सीकरी भी ऐसा मूल ढाचा जो सशोधन के अधिकार से बाहर है, निम्नलिखित बातो से निर्मित बताते हैं

(१) सविधान की सर्वोच्चता।
(२) सरकार का जनतात्रिक और ससदीय स्वरूप।
(३) सविधान का धर्मनिरपेक्ष चरित्र।
(४) विधानमडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारो का पृथक्करण।
(५) सविधान का सघीय चरित्र।

न्यायाधीश जगन्नाथ रेड्डी इस बात को और भी सामान्य शब्दो मे पेश करते हैं। उनकी स्थापना निम्नलिखित है

अनुच्छेद ३६८ के अन्तर्गत सशोधन के अधिकार काफी विस्तृत हैं, किन्तु इतने काफी विस्तृत नही कि वे इस तरह पूर्णतया रद्द कर दें या रद्द करने के बराबर हो जायें या इस तरह सारतत्व छीन लें या नष्ट कर दें कि उन मूल अधिकारो म से किसी को या सविधान के बुनियादी ढाचे के सारभूत तत्वो को और उसकी पहचान को नष्ट कर दें।

और फिर थोडा ढाढस बधाने के लिए न्यायाधीश महोदय ने जोडा

इन सीमाओ के भीतर ससद प्रत्येक अनुच्छेद को सशोधित कर सकती है।

स्पष्ट ही इन छै न्यायाधीशो की घोषणाओ मे से ऐसा कोई सुनिश्चित या स्पष्ट और बोधगम्य नियम प्राप्त करना असम्भव है जिसम यह सम्भव या विश्वसनीय आधार प्राप्त हो जाय कि सशोधन का अधिकार ठीक ठीक कितना व्यापक है उसकी सीमा कहा तक फैलती है और कब हम उस सीमा को पार करते तथा वर्जित क्षेत्र म प्रवेश करने माने जायेंगे, यानी कि किस सूरत म यह माना जायगा कि सविधान का मूल ढाचा रद्द किया जा रहा है या उसका सारतत्व छीना जा रहा है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि इन छै न्यायाधीशो का दृष्टिकोण न्यायालय का प्रधान दृष्टिकोण बन जाता तो सविधान म सशोधन सम्बन्धी ससद के अधिकार-क्षेत्र के मामले मे पूर्ण अनिश्चितता फैल जाती और यह अनिश्चितता उसस भी अधिक ऊची श्रेणी की होती जो गोलकनाथ के फैसले के बाद पैदा हुई थी।

स्पष्ट है कि अगर अन्तिम छै न्यायाधीशों का दृष्टिकोण न्यायालय का प्रधान दृष्टिकोण बन जाता तो कानून की स्थिति के विषय में अनिश्चितता न सिर्फ जारी रहती, बल्कि और अधिक बढ़ जाती।

इसलिए जहां तक न्यायालय के भविष्य का प्रश्न है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। हमारी जनतान्त्रिक व्यवस्था के स्थायित्व और प्रगति के लिए कानून की स्थिति के विषय में स्थिरता और निश्चितता एक जीवन्त प्राथमिक बात है। और इस तरह की निश्चितता एक ऐसी न्यायपालिका से ही सम्भव है जो अपने फैसलों के विषय में सुस्पष्ट होती है, यथासम्भव कम से कम बात अस्पष्ट और अनिश्चित छोड़ती है और अपनी बुनियादी स्थितियां का समय समय पर बदलती नहीं और उनमें भिन्नता पैदा नहीं करती।

हाल के मामले में उच्चतम न्यायालय के फैसले से अब स्पष्ट है कि गोलकनाथ मुकदमे का फैसला गलत था, स्पष्टतया गलत था। उस मामले में जो तेरह न्यायाधीश फैसला करने बैठे थे, उनमें से दस ने यह मत व्यक्त किया था, यानी वह लगभग सर्वसम्मत मत था। लेकिन उस फैसले से संविधान की व्याख्या में जो अनिश्चितता पैदा हुई उसके कारण देश को भारी क्षति पहुंची। और निश्चय ही अब जब कि न्यायालय ने उस फैसले से अपने को अलग कर लिया है, उसका मुख्य दायित्व और कर्तव्य यह होना चाहिए कि दृष्टिकोण सम्बन्धी उस स्थिरता को वह पुनः प्रतिष्ठित करे, जो उस विनाशक फैसले से पहले अस्तित्व में थी।

o

४. जनतांत्रिक व्यवस्थाओं मे न्यायाधीशों का सचयन

ऐमे व्यक्तियो को चुनने मे जो न्यायालय मे नियुक्ति के लिए उपयुक्त और योग्य हो, राज्य के व्यापक मामला पर और आज भारत मे हमे जिन निणयकारी सामाजिक आर्थिक समस्याआ का सामना करना पड रहा है, उन पर उनके दृष्टिकोण का मूल्याकन करना भी महत्वपूण है। अगर न्यायाधीश को इस निगाह से देखा जाता है कि वह तक के शुद्ध प्रकाश से निदेशित होता है, उसका अपना कोई दृष्टिकोण नही होता—विशेपकर आर्थिक नीति के मामलो मे—तो यह जीवन की वास्तविकताओ की उपेक्षा करना होगा।

पचास वप से अधिक समय पहले एक महान अमरीकी न्यायाधीश बेंजामिन कार्डोजो ने लिखा था

> हम सब मे एक प्रवृत्ति धारा होती है, उसे आप दशन कहे या न कहे, जो विचारो और क्रियाकलापो का एक सगति और दिशा प्रदान करती है। न्यायाधीश भी अन्य प्राणियो की भाति उस धारा से बच नही सकते। सारी जिन्दगी ऐमी शक्तिया उनके साथ खीच-तान करती रहती हैं जिन्हे वे पहचानते नहीं और जिनको वे नाम नही दे सकते—जैसे, विरासत म

मिनी मनोवृत्तियां, परम्परागत विश्वास, अर्जित आस्थाएं, और इन सब का परिणाम होता है जीवन सम्बन्धी एक दृष्टि, सामाजिक आवश्यकताओं की एक अवधारणा, एक भावना जिसे जेम्स के शब्दों में "ब्रह्माण्ड का सर्वांग बल प्रयोग और दबाव" कहते हैं जो, उस समय जब कि तर्क सुचारु रूप से सन्तुलित किये जाते हैं, यह निर्धारित करते हैं कि चयन क्या होगा।[1]

इसलिए न्यायालय में नियुक्ति के लिए प्रस्तावित व्यक्ति के "दर्शन," 'जीवन सम्बन्धी दृष्टि" और "सामाजिक आवश्यकताओं की अवधारणा" की परीक्षा करना महत्वपूर्ण है। नियुक्ति के लिए प्रस्तावित व्यक्ति के दर्शन की अवहेलना या उपेक्षा करना मूर्खता से अधिक चीज होगी, क्योंकि अंतिम विश्लेषण में जब "तर्क सुचारु रूप से सन्तुलित किये जाते हैं" तो यह न्यायाधीश का दर्शन ही होता है जो यह निर्धारित करता है कि उसका "चयन क्या होगा।"

हमें अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए। न्यायाधीशों के भी अपने विचार होते हैं—राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर। और जब वे उच्चतम न्यायालय के सदस्य बन जाते हैं तब वे उच्चतम सार्वजनिक महत्व के मुख्य मसलों पर फैसले देते हैं जिनमें उनके राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक विचार एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा किये बिना नहीं रहते।

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति पतंजलि शास्त्री ने जब निम्नलिखित बात कही थी तब इसी बिन्दु पर बल दिया था

> यह अपरिहार्य है कि फैसले में भाग लेने वाले न्यायाधीशों के सामाजिक दर्शन और मूल्य सम्बन्धी मानदण्ड एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करें।

इस मामले को राष्ट्रपति थ्योडोर रूजवेल्ट ने ८ दिसम्बर १९०८ को अमरीका की संसद के नाम भेजे गये अपने संदेश में जिस प्रकार रखा, उससे बेहतर या स्पष्टतावाले तरीके से शायद अन्य किसी ने नहीं रखा

१ "दि नेचर ऑफ दि जुडीशल प्रॉसेस" (न्यायिक प्रक्रिया की प्रकृति), स्टोर्स व्याख्यानमाला पृष्ठ १२ यह व्याख्यानमाला बेंजामिन एन. कार्डोज़ो ने जो बाद में अमरीका के उच्चतम न्यायालय के सहवर्ती (एसोशियेट) न्यायाधीश पद पर रहे (१८७० १९३८), १९२० में येल विश्वविद्यालय में दी थी और उसको न्यायिक मस्तिष्क की कार्य पद्धति पर क्लासिकी योगदान माना जाता है अपेक्षाकृत लम्बा उद्धरण परिशिष्ट १ में दिया गया है

हमारे देश में मुख्य कानून निर्माता शायद न्यायाधीश हो सकते हैं और अक्सर होते हैं क्योंकि सत्ता का अन्तिम पद उन्हीं का है। हर बार जब वे अनुबंध, सम्पत्ति, निहित अधिकारों, कानून की वैध प्रक्रिया और स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हैं तब वे आवश्यक रूप से सामाजिक दर्शन की एक व्यवस्था को कानून के अंगों के रूप में वैध बनाते हैं, और चूंकि ऐसी व्याख्या मूलभूत होती है, वे समस्त कानून निर्माण प्रक्रिया को दिशा देते हैं। आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर न्यायालयों के फैसले उनके आर्थिक और सामाजिक दर्शन पर निर्भर करते हैं, और बीसवीं सदी में अपनी जनता की शान्तिपूर्ण प्रगति के लिए हम सर्वाधिक आभारी होंगे उन न्यायाधीशों के जो बीसवीं सदी के आर्थिक और सामाजिक दर्शन के समर्थक हैं, उस दर्शन के नहीं जो काफी अर्से पहले पुराना पड़ चुका है और जो स्वयं आदिम आर्थिक परिस्थितियों की उपज था।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कि न्यायालय में किसको नियुक्त किया जाना चाहिए और विशेषत इस निश्चय पर पहुंचने के लिए कि उसका प्रधान किसे बनाना चाहिए, ये सभी बातें संगत हैं। किसी भी देश के इतिहास के हर चरण में जब कभी उच्चतम न्यायिक पद पर नियुक्ति के प्रश्न पर विचार किया गया, नियुक्ति अधिकारी सदा उन कर्तव्यों का जो देश के सामने उपस्थित होते हैं, उस दिशा का जिसमें देश बढ़ना चाहता है और "वक्त के तकाजे" का ध्यान रखता है। विशेषकर, किसी भी एंग्लो-सैक्सन देश में उच्च न्यायिक पदों पर नियुक्तियां पदोन्नति या वरिष्ठता के आधार पर नहीं की गयी। वास्तव में, इस प्रश्न पर राष्ट्रमण्डल के विभिन्न देशों और अमरीका की स्थिति का अध्ययन ज्ञानवर्धक और लाभप्रद है।

हमारे न्यायालयों में दुनिया के जिन मुख्य देशों के फैसलों और दृष्टान्तों की अक्सर चर्चा की जाती है, वे हैं अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा और आस्ट्रेलिया। और, इन चारों देशों में ऐसी कोई परम्परा नहीं है कि जिसके अनुसार न्यायाधीशों को न्यायिक व्यवस्था के उच्चतम पद पर कदम ब कदम पदोन्नत करते हुए नियुक्त किया जाता हो।

संयुक्त राज्य अमरीका

अमरीका में न्यायिक नियुक्तियों का पार्टी की विचारधारा के आधार पर किया जाना स्वीकृत है। १९३३ से १९७१ की अवधि में उच्चतम न्यायालय में २६ न्यायाधीश नियुक्त किये गये। इनमें से २२ सत्ताधारी राष्ट्रपति की पार्टी के थे, चाहे वह पार्टी रिपब्लिकन हो या डमोक्रैट। राष्ट्रपति फ्रेंकलिन

रुज़वेल्ट ने, जो बारह वर्ष तक राष्ट्रपति रहे, नौ न्यायाधीश नियुक्त किये थे जिनमे से आठ उनकी पार्टी, डेमोक्रैटिक पार्टी, के थे।

एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है

> राष्ट्रपतियो ने उच्चतम न्यायालय के लिए विशेष व्यक्तियो को क्यो चुना, इसके कारण भिन्न भिन्न हैं। नियुक्ति निर्धारित करने मे अक्सर विचार धारा ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु प्राय कुछ अन्य तत्व भी उतने ही निर्णयकारी प्रतीत होते है। राजनीतिक पारितोषिक, व्यक्तिगत मैत्री पार्टी की सेवा और यहा तक कि पहले का न्यायिक अनुभव उच्चतम न्यायालय की नियुक्तियो को सही ठहराने के लिए बडे कारण रहे हैं। सभी राष्ट्रपतियो ने उच्चतम न्यायालय के अधिकाश सचयन स्वय अपनी राज नीतिक पार्टी के सदस्यो मे से किये हैं। किन्तु यह भी रिवाज रहा है कि प्रत्येक प्रमुख राजनीतिक पार्टी का कम से कम एक सदस्य उच्च पद पर रखा जाय और इस 'आवश्यकता' को पूरा करने के लिए राष्ट्रपतियो ने समय समय पर 'पार्टी से बाहर" के न्यायाधीश चुने।
>
> (जोयल बी ग्रासमैन, 'पालिटिक्स आफ जूडीशल सलेक्शन")

इसलिए स्थिति स्पष्ट है। न्यायाधीश जितना अपने न्यायिक ज्ञान और कौशल के कारण चुने जाते है उतना ही अपनी राजनीतिक विचारधारा के कारण भी।

अमरीकी पाण्डित्य की सर्वांग सम्पन्नता की विशिष्टता के साथ स्टुअर्ट नागेल ने "राजनीतिक पार्टी से सम्बन्ध और न्यायाधीशो के फैसले" का विश्ले षण किया है। विस्तृत विचार के बाद नागेल ने देखा कि "१५ तरह के मुकदमो मे (लेखक ने तमाम तरह के मुकदमो को इन १५ श्रेणियो मे बाटा है) रिपब्लि कन न्यायाधीशो की तुलना मे कही अधिक हद तक डेमोक्रेटिक न्यायाधीशो ने अपने-अपने न्यायालयो मे औसत मे ऊपर ऐसे फैसले किये जिनको एक उदार पथी दिशा मे माना जा सकता है।"

इसलिए उनका निष्कर्ष है कि रिपब्लिकन न्यायाधीशो की तुलना मे डेमो क्रैटिक न्यायाधीशो से अधिक आशा की जा सकती है' कि वे प्रस्तावित उदार पथी दृष्टिकोण का समर्थन करेंगे और इसलिए स्पष्टत एक डेमोक्रैटिक राष्ट्र पति एक डेमोक्रैट को न्यायाधीश नियुक्त करना पसन्द करेगा, और यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि उदार या रूढिपथी होने की यह 'सम्भावना दृष्टिकोण मे स्वतन्त्रता और न्यायिक ईमानदारी के अभाव से नही पैदा होती बल्कि इसके विपरीत सम्बन्धित न्यायाधीश के मूलभूत दर्शन और दृष्टिकोण से पैदा होती है। उच्च

राजनीतिक नियुक्तिया तथा न्यायाधीशमण्डल (बेंच) के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हाल के दो उदाहरणो से सिद्ध होता है।

हाल मे अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधिपति वारेन १९५३ म इस न्यायिक पद को ग्रहण करने से ठीक पहले कैलिफोर्निया के रिपब्लिकन राज्यपाल थे। १९४८ मे वह जान डेवी के साथ उपराष्ट्रपति पद के लिए रिपब्लिकन उम्मीदवार थे और १९५२ के रिपब्लिकन सम्मेलन मे जनरल डवाइट आइज़नहावर के जबदस्त समथक थे।

उसी न्यायालय के न्यायाधीश विलियम ओ डगलस फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट के न्यू डील' काल म वाशिंगटन म सरकारी ऋण तथा मुद्रा विनिमय आयोग के अध्यक्ष रहे थे और अपनी नियुक्ति से ठीक पहले तक डेमोक्रेटिक पार्टी म सशक्त राजनीतिक शक्ति थे। इसी प्रकार अमरीका के उच्चतम न्यायालय तथा अन्य सघीय न्यायालयो, दोनो के ही अनक अन्य न्यायाधीश किसी न किसी समय अपनी नियुक्ति के समय तक सत्ताधारी पार्टी से घनिष्ठत सम्बन्धित थे और राज्य स्तर पर नियुक्त किय गये न्यायाधीशो के मामले म यह सम्बन्ध अक्सर और अधिक घनिष्ठ रहा है।

इसलिए इन नियुक्तियो का निकट से पयवेक्षण करने वाले एक विद्वान ने टिप्पणी की है

> निश्चय ही, अमरीकी उच्चतम न्यायालय के सामने जो सावजनिक प्रश्न आते हैं, उनकी प्रकृति और 'नियत्रण तथा सतुलन' की अमरीकी व्यवस्था म सरकार की तीसरी शाखा के रूप म उसकी सवैधानिक भूमिका से आम तौर पर यह निर्देशित होता है कि उसके पदाधिकारी सावजनिक जीवन से, विशेषकर उस न्यायालय के नीति सम्कार के प्रकाश मे, भरती किये जायें।
>
> ("कनैडियन कान्स्टीच्यूशनल ला इन ए माडन पसपेक्टिव", यूनिवर्सिटी आफ टोरटो प्रेस, १९७०, पृ ३४६)

राजनीतिक विचारधारा और दृष्टिकोण के आधार पर न्यायिक नियुक्तिया करने की यह पद्धति जनतात्रिक व्यवस्था म कैसे उचित ठहरायी जा सकती है?

प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का अपना गुट का राजनीतिक दशन और अपनी विचारधारा होती है तथा इसी तरह प्रत्यक न्यायाधीश के, अपने ही तरीके से, अपने पूवग्रह और पूवधारणाए, अपना दशन और जीवन दृष्टिकोण, होता है। अपने सदन मे राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने जिस चीज पर बल दिया (जिसका उद्धरण पृष्ठ २७ पर दिया जा चुका है) था, यह था कि न्यायाधीश समेत हर व्यक्ति

का अपना दशन होता है और वह दशन महत्वपूण है, परीक्षा यह करनी होती है कि रूजवेल्ट के शब्दो म, वह 'काफी अरमे पहले पुराना पड चुका दशन" है जो पीछे की ओर देखता है या एक आधुनिक दशन है जो आग की ओर देखता है।

एक बार फिर यायाधीश बजामिन एन कार्डोजो की क्लासिकी कृति 'दि नेचर आफ दि जुडीशल प्रासस' ("यायिक प्रक्रिया की प्रकृति', जो बहुत पहले, १६२१ मे, प्रकाशित हुई थी) स वे शब्द उद्धृत करें जिनकी भाषा के सौदय और विचारो की परिशुद्धि, दोनो के मामले म, शायद ही कोइ मान दे सका है। उन्होने लिखा है

> चेतना की गहराई मे नीचे अय शक्तिया है रुचिया और अरुचिया पूववृत्तिया और पूवग्रह, मूल प्रवृत्तियो और भावावेगा तथा आदतो और विश्वासो की गुत्थिया, जो मनुष्य का निर्माण करती है वह चाहे यायाधीश हो या वादी प्रतिवादी। मेरी कामना थी कि इस विषय का और अधिक अनुशीलन करने के लिए मेरे पास समय और अवसर होता। जैसा भी हो, मैं यहा उसके अस्तित्व के विषय मे स्मरण कराने से अधिक कुछ नही कर सकता। इस विषय के विचार विनिमय मे या शायद उस पर विचार करने से इनकार करने मे, स्पष्टवादिता की कुछ ऐसी कमी है मानो इस बात की याद दिलाय जाने से कि यायाधीश भी मानवीय सीमाओ के अधीन है उनके प्रति सम्मान और विश्वास समाप्त हो जायगा।[1] मुझे गौरव की अवधारणा म सदेह नही है जो उन्हे परेशान और दिशा भ्रमित करने वाली शक्तियो के बहाव से अलग और बाहर विशुद्ध तकबुद्धि के ससार म पहुचा देती है। तब भी अगर यायिक प्रक्रिया के मेरे विश्लेषण मे यथाथ का लेशमात्र अश भी है तो वे उन हिमानी और सुदूर शिखरो पर अकेले खडे नही पाये जा सकते, और अगर हम यह कह कि वे पाये जाते है तो इस बात स हम सत्य के लक्ष्य की सहायता नही कर सकते। जो भारी ज्वार भाटे और धाराए शेष मनुष्यो को सराबोर किये रहती हैं वे अपने रास्ते से हट कर यायाधीशो को अछूता कर नहीं निकल जाती। (पृष्ठ १६७ ६८)।

जिस वस्तुपरकता और ईमानदारी से अमरीका के महानतम यायिक

१ मैं समझता हू कि यह तीखी मगर विनम्र टीका आज भारत में चल रहे वाद विवाद पर भी भली भाति लागू हो सकती है

मस्तिष्को मे से एक सवमाय विद्वान ने इन विचित नाजुक समस्याओ का सामना किया और उनकी परीक्षा की, उससे शायद भारत मे हम लोग भी सीख सकते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन

ब्रिटेन मे न्यायाधीशो को पदोन्नति देने की कोई स्वीकृत पद्धति नही है। आम तौर पर अगर एक व्यक्ति काउटी (मडल) न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हो जाता है तो वह काउटी न्यायालय का न्यायाधीश बना रहता है और उसी पद से अवकाश ग्रहण करता है। ऐसा लगता है कि सिर्फ एक बार एक ऐसे न्यायाधीश को उच्च न्यायालय मे नियुक्त किया गया था।

किन्तु वरिष्ठ न्यायाधीशो म स उच्च न्यायालय से अपील न्यायालय क लिए, अथवा उच्च न्यायालय या अपील न्यायालय स राज सभा (हाउस आफ लॉर्ड्स) के लिए पदोन्नति की जाती है। इन तीनो ही न्यायालयो मे स प्रत्येक मे सीधी नियुक्तिया की गयी है और अपील न्यायालय या राज सभा के रिक्त स्थान की भी पूर्ति अक्सर उच्च न्यायालय के बजाय वकीलो म से की जाती है। तक यह है कि उच्च न्यायालय का एक अच्छा न्यायाधीश मुख्यत विचारण (ट्रायल) न्यायाधीश होता है और यह आवश्यक नही कि विचारण न्यायाधीश अपीलेट के काम म भी अच्छा न्यायाधीश सिद्ध हो और विपरीतत भी यही बात है।

लेकिन यह नही है कि इगलड मे 'राजनीतिक दावा' की उपेक्षा की जाती है। आर एम जैक्सन ने अपनी पुस्तक ' दि मशीनरी आफ जस्टिस इन इगलंड ('इगलैण्ड मे न्यायतत्र') पृ २०६-२१० पर लिखा है

> श्रेष्ठतम पद, लार्ड चीफ जस्टिस का पद, राजनीतिक सेवाओ के लिए लग भग एक पारितोषिक होता है।

और जैक्सन ने आगे टीका की है

> इसलिए राजनीति न केवल न्यायिक पद मे वृहत्तर परिवर्तन ला सकती है बल्कि और अधिक वाछनीय पदो तक भी प्रत्यक्षत पहुचा सकती है। पदोन्नति की व्यवस्था से शायद और भी अधिक बुरे परिणाम होंगे। एक बार व्यक्ति न्यायाधीश बन जाय तो उसे यथासम्भव स्वतत्र बनना चाहिए, अगर अपने न्यायिक आचार से सरकार को प्रसन्न कर वह पदोन्नति प्राप्त करता है तो यह हमेशा सम्भव है कि वह सदा अपनी भावी

उन्नति की ही बात सोचता रहेगा। पदोन्नति की आकांक्षा शायद फ्रांसीसी न्यायपालिका का सबसे अधिक निर्बल अंग है, एक छोटा न्यायाधीश यह महसूस कर सकता है कि अगर वह अपने सेवा विभाग के प्रधानों का ध्यान आकर्षित नहीं करेगा तो उसको नजरंदाज किया जा सकता है और वह अपने मौजूदा ग्रेड में ही रह जायगा। इंगलैण्ड में नियुक्ति के राजनीतिक दावों के दबाव कम से कम उस समय समाप्त हो जाते हैं जब नियुक्ति कर दी जाती है। ऋण अदा हो जाता है और राजनीतिक हिसाब किताब बंद कर दिया जाता है।

इंगलण्ड में उच्चतम न्यायिक पद के सचयन को राजनीति किस हद तक निर्धारित करती है इसको जिस तरीके से १९२० में लायड ज्याज की सरकार के एटर्नी जनरल सर गौडन हेवट मुख्य न्यायाधिपति बने, उससे देखा जा सकता है। उस समय जब लाड रीडिंग मुख्य न्यायाधिपति थे, सर गौडन हवट ससद म लायड ज्याज के दाहिने हाथ थे। लाड रीडिंग, जिन्होंने १९१३ में मुख्य न्यायाधिपति के पद की पूर्ति की थी, किसी राजनयिक पद या अन्य उच्च राजनीतिक उत्तरदायित्व के आकांक्षी थे और उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न विचाराधीन था।

उस समय लायड ज्याज ने हेवट से पूछा कि क्या उन्हें न्यायिक या कानूनी पद में कोई दिलचस्पी है और उन्हें स्पष्ट उत्तर मिला "मेरा उत्तर वहिचक रूप से, न्यायिक पद के पक्ष में है।"

लायड ज्याज के प्रश्न का अर्थ स्पष्ट था और वह इस सर्वमान्य परम्परा से पैदा होता था कि इंगलैण्ड के मुख्य न्यायाधिपति पद के लिए पहली तरजीह एटर्नी जनरल को मिलती है।

एच जी हैनबरी ने अपनी पुस्तक 'इंगलिश कोर्टस आफ ला" (इंगलैण्ड के न्यायालय) में इस प्रणाली का वर्णन इस प्रकार किया है

लाड चीफ जस्टिस (मुख्य न्यायाधिपति) की नियुक्ति अन्य न्यायिक नियुक्तियों से भिन्न होती है। वह प्रधान मंत्री के हाथ में है और जब वह पद रिक्त होता है तो पार्टी व्यवस्था की प्रथाओं के अनुसार इस पर दावा एटर्नी-जनरल के पक्ष में जाता है जो सम्राट का मुख्य न्यायिक सलाहकार होता है और मन्त्रिमण्डल का प्रमुख सदस्य भी होता है हालांकि आम तौर पर वह मन्त्रिपरिषद (कैबिनेट) का सदस्य नहीं होता। (पृ १६४ ६५)।

किन्तु लायड ज्यॉज, हेवट को खोना नही चाहते थे क्योंकि, उनके अपने ही शब्दो मे, हेवट उनके लिए "परम आवश्यक" थे। हेवट बडे प्रतिभाशाली ससदवेत्ता थे और लायड ज्याज लोक सभा (हाउस आफ कॉमन्स) मे अपने दल के उपनेता के रूप मे लगभग उन पर ही भरोसा करते थे।

कुछ समय तक लायड ज्याज ने फैसला स्थगित रखा, लेकिन अन्तत मामला सिर तक आ गया क्योंकि लॉर्ड रीडिंग को भारत का वाइसराय बना कर भेजने का फैसला किया जा चुका था। फिर भी प्रधान मत्री महोदय हेवट को न्यायालय म भेजने के लिए राजी न थे और इसलिए एक बीच का रास्ता निकाला गया जिसके अनुसार न्यायाधीश ए टी लॉरेंस ने, जिन्होने बाद म लार्ड ट्रेवेथिन की पदवी ग्रहण की, मुख्य न्यायाधिपति का पद इस वायदे के साथ सभाला कि ज्यो ही ससद के भग होने का समय आ जायगा, वह पद से इस्तीफा दे देंगे और हेवट के लिए रास्ता साफ कर देंगे। कुछ समय बाद ही जब लोक सभा भग की जाने वाली थी तो लायड ज्यॉज ने विचित्र रीति से हेवट को दिया गया अपना वायदा निभाया, जिसका वर्णन हेवट की जीवनी के लेखक रॉबर्ट जैकसन ने इस प्रकार किया है

> लेकिन लायड ज्याज ने मूल इकरार पूरा किया। बिना किसी समारोह के परित्यक्त ट्रेवेथिन ने स्वय अपने इस्तीफे का समाचार टाइम्स अखबार म पढा, और न्यायपालिका के सर्वाधिक सम्मानजनक स्थायी न्यायिक पद पर आसीन होते हुए हेवट ने बावन वर्ष की आयु म अपने जीवन की महत्वाकाक्षा पूरी की।[1]

इस तरह स्पष्ट है इगलैण्ड मे न्यायाधीशो के सचयन म वरिष्ठता या पदोन्नति का कोई खास ध्यान नही रखा जाता।

आस्ट्रेलिया

आस्ट्रेलिया मे न्यायिक ढाचे म एक ओर उच्चतम राष्ट्रमण्डल न्यायालय, आस्ट्रेलिया का उच्च न्यायालय है तो दूसरी ओर राज्यो म सर्वोच्च न्यायालय है।

१९०३ और १९६५ के बीच आस्ट्रेलिया म सात मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किये गये थे। मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त होने से पहले इनमे से दो प्रतिनिधि सभा (जो हमारी ससद की तरह है) के और मत्रिमडल के सदस्य

१ रॉबर्ट जैकसन की पुस्तक 'दि चीफ', पृ. १४४

थे। एक व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त होने से पहले प्रतिनिधि सभा का सदस्य और मन्त्री था हालांकि बाद मे उसे मुख्य न्यायाधिपति के पद पर पदोन्नति दी गयी। दो अन्य सदस्य मुख्य न्यायाधिपति बनने से पहले राज्यो की विधान सभाओ के सदस्य थे और इन दोनो मे से एक राज्य सरकार मे मन्त्री भी रहा था।

इसलिए यह स्पष्ट है कि मन्त्री पद पर रहने समेत किसी राजनीतिक पार्टी से सम्बन्ध होना उच्च न्यायिक पद के लिए कोई बाधा नही है। आस्ट्रेलिया के वर्तमान मुख्य न्यायाधिपति, बारविक, मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त होने से पहले केन्द्रीय मन्त्रिमडल म मन्त्री थे और १९६४ मे अपनी नियुक्ति के बाद नौ वर्ष से वह न्यायिक पद पर हैं। उनके फैसलो का आस्ट्रेलिया मे और बाहर सम्मान होता है तथा कोई उन्ह इसलिए सन्देह की दृष्टि स नही देखता कि वह न्यायालय म राजनीतिक क्षेत्र से आये है।

जहा तक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति की स्थिति है वह भी बहुत भिन्न नही है। १९०३ और १९६५ के बीच आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय मे १७ न्यायाधीश (उपरोक्त मुख्य न्यायाधिपतियो की नियुक्ति के अतिरिक्त) नियुक्त किये गये जिनमे से नौ व्यक्ति सीधे राजनीति से आये प्रतीत होते हैं। न्यायाधीश पद पर अपनी नियुक्ति से पहले इनम से सात व्यक्ति राज्यो की विधान सभाओ के या प्रतिनिधि सभा के सदस्य थे और तीन केन्द्रीय मन्त्रिमडल के सदस्य थे जिनमे से एक तो न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति से पहले प्रधान मन्त्री रह चुका था।

न्यायाधीश बार्टन राजनीति मे एक लम्बे और प्रतिभा-सम्पन्न जीवन के बाद—जिसमे वह विधान सभा के सदस्य, विधान परिषद के सदस्य, राज्य म मन्त्री और फिर प्रतिनिधि सभा के सदस्य और प्रधान मन्त्री तक रह चुके थे—१९०३ म न्यायालय मे नियुक्त किये गये थे।

इसलिए यह प्रकट है कि आस्ट्रेलिया म लम्बे और प्रतिभा सम्पन्न राजनीतिक जीवन को न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए एक अयोग्यता के बजाय योग्यता माना जाता रहा है और फिर इगलैण्ड की ही तरह देश के उच्चतम न्यायिक पद पर नियुक्ति के प्रश्न पर वरिष्ठता (सीनियारिटी) का प्रश्न कभी नही उठा।

कनाडा

कनाडा का अनुभव भी आस्ट्रेलिया के अनुभव से भिन्न नही है।

अगर हम १९४० और १९६० के बीच प्रान्तीय और सघीय स्तरो पर न्यायिक पदो की नियुक्तियो की स्थिति को देखें तो इस बीच ४४ नियुक्तिया

की गयी थी। इनमे से पच्चीस के सुविदित राजनीतिक सम्बन्ध थे और २२ व्यक्ति निर्वाचित राजनीतिक पदो पर रह चुके थे जिनम से कई प्रान्तीय मन्त्रिमडलो मे भी रहे थे। इनमे से पाच इस बात मे प्रमुख राजनीतिक पदो पर रह चुके थे, जिनमे से चार व्यक्ति सघीय मन्त्रिमडल मे मन्त्री रह चुके थे और एक प्रान्तीय मुख्य मन्त्री। तीन अन्य व्यक्ति १६४० स पहले प्रातीय मन्त्री थे, जिनमे से एक व्यक्ति सघीय मन्त्रिमडल म मन्त्री भी रह चुका था।

यह भी नोट करना महत्वपूर्ण है कि इन ४४ नियुक्त न्यायाधीशो म से २१ व्यक्तियो को कोई भी पिछला न्यायिक अनुभव नही था। इस तरह स्पष्ट है कि जहा तक कनाडा का सम्बन्ध है, वहा न्यायिक सोपान मे ऊपर चढते चले जाने का कोई चिह्न नही मिलता। उन २३ के मामले मे भी जिन्हें पहले का न्यायिक अनुभव था, गति की दिशा थी—अपील न्यायालय से प्रातीय सर्वोच्च न्यायालय की ओर, फिर प्रान्तीय मुख्य न्यायाधिपति के पद की ओर, या कनाडा के उच्चतम न्यायालय की ओर।

४४ नियुक्त व्यक्तियो म से १७ ने कनाडा के उच्चतम न्यायालय म काम किया। तब भी यहा पर १७ मे म १० न्यायाधीशो को पूर्व अनुभव के बिना ही, सीधे उच्चतम न्यायालय म नियुक्त किया गया जब कि सात ने कुछ समय तक प्रातीय न्यायालयो म काम किया था।

कनाडा की न्याय व्यवस्था के एक टीकाकार ने लिखा है कि, "न्यायिक पद राजनीतिक जीवन रेखा का अन्तिम बिन्दु है।"

इस मामले को एक और दृष्टिकोण से परीक्षा करना दिलचस्प है। सख्यात्मक हिसाब किताब यह है कि १६४०-६० के काल मे १२१ व्यक्ति कुछ समय तक सघीय मन्त्रिमडल म मन्त्री या प्रातीय मुख्य मन्त्री पद पर रह और १६६२ मे उनमे स ३० व्यक्ति तब भी इन पदो पर थे।

अगर बाकी बचे ६१ व्यक्तियो (१२१ म से ३० कम) को लें तो हम पायेगे कि उनम से १८ यानी लगभग छठवा भाग, न्यायिक पदो पर थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनीतिक जीवन के अन्त से अक्सर न्यायिक जीवन शुरू हुआ। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि कनाडा म राजनीति और न्यायालयो के पदो के बीच कोई बहुत स्पष्ट और पैनी विभाजन रेखा रही है बल्कि एक जीवन बिना किसी बाधा के दूसरे म बहता चला जाता है।

इस सारे मामले मे कनाडा के अभिमत को शायद कनाडा की लोक सभा मे एक प्रमुख सदस्य द्वारा दिये गये उन भाषण के उद्धरण मे समझा जा सकता है जो १६६७ मे एक वाद विवाद के बीच दिया गया था जब कि न्यायपालिका मे राजनीतिक नियुक्तियो के प्रश्न पर बहस चली थी।

बहस मे मि विलियम्स ने विचार प्रकट किया था

> मैं उन माननीय सदस्य से सहमत हू जिन्होने कहा था कि एक व्यक्ति जिसने सावजनिक जीवन मे सेवा की हो, उसको इस तथ्यवश न्यायालय म नियुक्ति के अयोग्य नही माना जाना चाहिए। इस सिलसिले मे मैं सदन के एक भूतपूव सदस्य का किंचित सम्मानपूवक हवाला देना चाहूगा, जो उस समय अपील कोट मे साम्राज्ञी की बेंच डिवीज़न के सदस्य थे (अब उनकी मृत्यु हो चुकी है)। वह न सिफ अत्यन्त योग्यता-सम्पन्न थे, बल्कि सार्वजनिक जीवन मे तथा जनता से व्यवहार करने म अपने अनुभव के कारण उन्होने न्यायाधीश के रूप मे एक मानवतावादी दृष्टिकोण जोडा। इसलिए, मुझे ऐसा नही लगता कि इस तथ्यवश कि एक व्यक्ति ने प्रान्तीय विधान सभा, लोक सभा या सावजनिक क्षेत्र म सेवा की है, उसको न्यायाधीश पद पर नियुक्त किये जाने से रोक दिया जाना चाहिए। ऐसी सेवा को न्यायमंत्री को ध्यान मे रखना चाहिए क्योंकि अगर एक व्यक्ति का अपने घर म, अपने मतदाताओं का समथन प्राप्त हुआ है तो हम विश्वास कर सकते है कि वह अच्छा न्यायाधीश बनेगा और वह फैसले करन म तथा उसको दी गयी जिम्मेदारियो को निभाने मे मानवीय होगा।

लेकिन शायद उच्चतम न्यायालय मे नियुक्तियो के सम्बन्ध म कनाडियाई दृष्टिकोण का सर्वोत्तम सार प्रस्तुत किया है मकविहनी ने अपने लेख 'कनाडा मे न्यायालय मे नियुक्तियो का एक आधार" जो **कनाडियन बार रिव्यू** नामक पत्रिका के अक ३३ (१९५५) मे पृष्ठ ९७९ पर प्रकाशित हुआ है। उन्होंने लिखा

> क्या शायद यह तथ्य कि न्यायपालिका म सम्भावित नियुक्ति के लिए प्रस्तुत व्यक्ति सत्तारूढ पार्टी के साथ राजनीति म सक्रिय रूप से प्रतिबद्ध था, उसको न्यायिक जिम्मेदारिया निभाने के लिए किसी कदर कम योग्य बना देता है? जिन न्यायालयो मे नियुक्तिया की जाती हैं, उनके आधार पर शायद विभेद किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, कनाडा के उच्चतम न्यायालय को अक्सर सावजनिक कानून के मामलो पर फैसले देने होते हैं और इसलिए शायद उस न्यायालय के सदस्यो को भारी लाभ होगा अगर उन्हे सावजनिक मामलो का अनुभव हो। १९५५ मे अपनी नियुक्ति के पहले न्यायाधीश एबट उस समय लिबरल पार्टी की सरकार

मे वित्त मंत्री थे और उन्हें सार्वजनिक मामले निबटाने के लिए सुयोग्य माना जाता था। दूसरी ओर काउंटी न्यायालयों के न्यायाधीशों को इस प्रकार के मामलों पर शायद ही कभी फैसला देने को कहा जाता है, इसलिए उन न्यायालयों में सार्वजनिक जीवन में अनुभव प्राप्त लोगों को नियुक्त किये जाने का औचित्य कम है।

इसलिए उच्च न्यायिक नियुक्तियों के प्रश्न पर गम्भीर विचार विनिमय इस बिन्दु से प्रारम्भ होना चाहिए कि राजनीतिक जीवन तथा न्यायिक जीवन के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा का होना जनतांत्रिक व्यवस्था का मूल तत्व नहीं है। इसके विपरीत आम तौर पर चार बड़े अंग्रेजी भाषी जनतंत्रों में राजनीति, विचारधारा, व्यक्ति के दृष्टिकोण को उच्चतर न्यायिक सोपान पर नियुक्ति के लिए योग्यता निर्धारित करने में निर्णायक माना जाता प्रतीत होता है।

किन्तु अपने देश में हम सीढ़ी दर-सीढ़ी वाली दृष्टि द्वारा पूरी तरह दलदल में फंस गये मालूम होते हैं। स्पष्ट ही यह उस अवशेष का परिणाम है जिसे समस्या के प्रति सिविल सर्वेंटों का रवैया और समझदारी कहा जा सकता है। सोपानवाद इंडियन सिविल सर्विस के ढांचे का मूल तत्व था और अब इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस का। और जिस ढंग से सिविल सर्विस में ऊपर की ओर चढ़ाव आम तौर पर वरिष्ठता (सिनियोरिटी) से निर्धारित किया जाता है, वही से न्यायिक प्रशासन की हमारी व्यवस्था में लागू किये जाने वाला सिद्धान्त निकलता प्रतीत होता है।

अन्य दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों के अतिरिक्त इसी से एक ऊलजलूल स्थिति यह पैदा हुई है कि उच्चतम न्यायालय के काम की २३ वर्ष जैसी छोटी सी अवधि में हमारे यहां १४ मुख्य न्यायाधिपति हुए—किसी अन्य देश में इसका समानान्तर उदाहरण नहीं मिलता। अन्य देशों के तुलनात्मक आंकड़े ये हैं

आस्ट्रेलिया	७ मुख्य न्यायाधिपति	७० वर्षों में
कनाडा	१० मुख्य न्यायाधिपति	७३ वर्षों में
अमरीका	१५ मुख्य न्यायाधिपति	१७३ वर्षों में
ग्रेट ब्रिटेन	८ मुख्य न्यायाधिपति	७३ वर्षों में

इसी का परिणाम है कि कुछ मुख्य न्यायाधिपतियों ने एक महीने जैसी छोटी सी अवधि (न्यायाधीश शाह) तक ही पद संभाला और चार वर्ष से अधिक किसी ने नहीं। कोई न्यायाधीश न्यायालय पर सशक्त और सकारात्मक प्रभाव छोड़े, उसको अच्छा नेतृत्व और दृष्टिकोण सम्बन्धी निरन्तरता दे तथा

उचित परम्पराए डाले, इसके लिए सामान्यत यह अवधि बहुत कम है। यहा हम फिर अमरीका के उदाहरण से लाभ उठा सकते है जहा १९५२ से १९६८ तक न्यायालय को वारेन-न्यायालय कहा जाता है—एक ऐसा न्यायालय जिसने सुनिश्चित रूप से उदारपथी प्रवृत्ति के फैसलो से, विशेषकर जातिभेद तथा व्यक्तिगत स्वतत्रता के सम्बन्ध मे फैसलो से, एक कीर्तिमान स्थापित किया।

इस दृष्टि से भी वरिष्ठता के आधार पर न्यायाधीशो को नियुक्त करने के अमल या रिवाज का न्यायालय की कार्य प्रणाली पर निश्चय ही नकारात्मक प्रभाव पडा है।



५. अमरीकी उच्चतम न्यायालय और "नव व्यवहार" नीति

अमरीका में "नव व्यवहार" (न्यू डील) नीति के काल में कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच टकराव की घटना शायद एंग्लो-सैक्सन दुनिया के न्यायालयों के इतिहास में सर्वाधिक नाटकीय है।

अमरीका के श्रेष्ठतम राष्ट्रपतियों में से एक, फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट, ने १६३२ में डेमोक्रैटिक पार्टी की तूफानी विजय में, जिसमें संसद में भी डेमोक्रैटों को बहुमत मिला, हर्बर्ट हूवर के विरुद्ध भारी विजय प्राप्त की थी। चुनाव का केन्द्रीय प्रश्न था आर्थिक मंदी की समस्या जो १६२६ में सट्टा बाजार (स्टॉक एक्सचेंज) के ढह जाने के बाद शुरू हो गयी थी। रूज़वेल्ट जनता के पास यह साहसी और सुनिश्चित वादा लेकर गये कि वह देश को मंदी के कुप्रभावों से मुक्त करने के लिए तेजी से कदम उठायेंगे।

रूज़वेल्ट नवम्बर १६३२ में चुने गये और जनवरी १६३३ में उन्होंने कार्यभार संभाला। तुरन्त उन्होंने अपना "नव व्यवहार" कार्यक्रम शुरू किया जिसमें अत्यन्त आवश्यक आर्थिक समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से कई क्रान्तिकारी कदम थे। इस कार्यक्रम की संवैधानिक वैधता को जिसको उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी और एक ओर राष्ट्रपति तथा दूसरी ओर

न्यायालय के बीच लम्बा सघर्ष इन कानूनों की संविधान-सम्मतता के गिर्द उठ खड़ा हुआ।

उस समय के अमरीकी उच्चतम न्यायालय में नौ न्यायाधीश थे। और जब नव व्यवहार कानून न्यायालय के सामने आये तब रूढ़िपथी और उदारपथी न्यायाधीशों के बीच विभाजन लगभग बराबर था। यह समझ लिया गया था कि चार रूढ़िपथी सदस्य, न्यायाधीश गण जेम्स मैक्रेनोल्ड्स, पियर्स बटलर, ज्यॉर्ज सदरलैंड और विलिस वान डिवेंटर नव व्यवहार के विरुद्ध वोट देंगे। इनमें से हर न्यायाधीश अर्थनीति में मुक्त व्यापार दर्शन के और राजनीतिक क्षेत्र में सघीय सरकार के सीमित अधिकार की नीति का अनुयायी था। इसके विपरीत उदारपथी न्यायाधीश गण—लुई डी ब्राइडस, हारलन एफ स्टोन और बेंजामिन एन कार्डोजो—भी अपने दृष्टिकोण में सुदृढ़ थे तथा नव व्यवहार कार्यक्रम में सहानुभूति रखते थे। और इनके बीच सन्तुलन सभालने वाले थे मुख्य न्यायाधिपति ह्यूजेस और न्यायाधीश ओवेन जे रॉबर्ट्स। इन दो न्यायाधीशों ने रूढ़िपथी खेमे से अपनी शुरुआत की थी, मगर बाद में १९३६ में रूज़वेल्ट के पुनः निर्वाचित होने के बाद अपनी स्थिति बदल ली।[१]

रूज़वेल्ट के सत्तारूढ़ होने के तुरन्त बाद १९३३ में ससद द्वारा नव व्यवहार कानून पास कर दिये गये थे। मगर वे अदालत में चुनौती के लिए पेश किये गये १९३५ में और छः महीने में न्यायालय ने दस बड़े मुकदमों में फैसले दिये। न्यायालय ने दस महत्वपूर्ण मुकदमों में से आठ को अवैध करार कर देने वाले फैसले दिये और अमल में रूज़वेल्ट के कार्यक्रम का सारतत्व नष्ट कर दिया। उसने क्रमशः राष्ट्रीय औद्योगिक पुनर्जीवन कानून, स्वयं राष्ट्रीय पुनर्जीवन कानून, रेलरोड पेंशन कानून, खेत रेहननामा कानून, कृषि समजन कानून, बिटूमिनस कोयला कानून और म्युनिसिपल दिवालियापन कानून को रद्द कर दिया।

उन दिनों के एक टीकाकार ने इन कानूनों को अवैधानिक घोषित करने के विषय में कहा था

> आर्थिक सत्ता और लोकप्रिय सत्ता के बीच बुनियादी खाई को छिपाना या अनदेखा करना अब सम्भव नहीं रह गया था। एक छोटे से सत्र में

१ जिन चार न्यायाधीशों ने नव व्यवहार का लगातार विरोध किया और उसको नष्ट करने का प्रयत्न किया यानी बटलर, मैक्रेनोल्ड्स, वान डिवेंटर और सदरलैंड, तथा रॉबर्ट्स, जिन्होंने उनके साथ काम शुरू किया था और बाद में पक्ष बदल लिया था—उनके पिछले जीवन का विवरण परिशिष्ट २ में देखिए

न्यायालय ने राजनीतिक सत्ता के हाथ पाव बाधने के लिए सभी स्तरो पर एक बडा सवैधानिक जाल बुन दिया था। १९३६ के वसन्त काल तक ऐसा लगता था कि न्यायालय ने नव व्यवहार को असवैधानिकता के छिछले तट और चट्टानो पर पटक कर चूर चूर कर दिया है।[1]

१९३६ मे रूजवेल्ट पुन मतदाताओ के सामने गये। सारे अखबारो ने भविष्यवाणी की कि वह हार जायेंगे और उनका विरोधी जीत जायगा। उन्होने अपने पहले कार्यकाल मे जो दूरदर्शी और अग्रगामी कदम प्रस्तावित किये थे, उनकी यह कह कर निन्दा की गयी कि उनसे समाज मे टूट फूट पैदा होगी और अमरीका बरबाद हो जायगा। फिर भी सभी बडे अखबारो के लगभग एकमत विरोध और उनके इस मूल्याकन के बावजूद कि रूजवेल्ट निश्चय ही हारेंगे, उन्होने आश्चर्यजनक और विशाल बहुमत से विजय पायी तथा दो राज्यो को छोड कर शेष सभी राज्यो तथा मतदाताओ मे ६० प्रतिशत का समर्थन प्राप्त किया।

तुरत १९३७ की काग्रेस मे उन्होने सुप्रसिद्ध "न्यायालय के पुनर्गठन का कानून" पेश किया जिसका उद्देश्य सघीय न्यायपालिका मे आमूल परिवर्तन करना था।

विधेयक म उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो के लिए ७० वर्ष की आयु म स्वेच्छा से अवकाश प्राप्त करने की व्यवस्था थी। उसमे नियम रखा गया कि अगर न्यायालय का प्रत्येक सदस्य, जो आयु सीमा पर पहुच जायेगा और अवकाश प्राप्त नहीं करेगा, तो राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह एक अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त करे। न्यायाधीशो की अधिकतम सख्या १५ निश्चित की गयी। अपने प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए रूजवेल्ट ने कहा था

> न्यायिक व्यवस्था मे क्रमतापूर्वक और लगातार नया और नौजवान खून लाने से, मुझे सवप्रथम आशा है कि सघीय न्यायपालिका के प्रशासन को तीव्रतर और इसलिए कम महगा, बनाया जा सकेगा, दूसरे, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर फैसले लेने के लिए नौजवान लोग लाये जा सकेंगे जिनको ऐसे आधुनिक तथ्यो तथा परिस्थितियो का व्यक्तिगत अनुभव और सम्पर्क है जिनम औसत आदमी को रहना और काम करना

१ दखिए अल्पेन्स टी मेसन की पुस्तक दि सुप्रीम कोर्ट वेहिकल ऑफ रिवील्ड ट्रुथ ऑर पावर ग्रुप' १९३० ३७ पृ ३६ ३७

पड़ता है। यह योजना हमारे राष्ट्रीय संविधान की न्यायिक नाड़ियों को जड़ीभूत होने से बचा लेगी।[1]

रूज़वेल्ट के इस प्रस्ताव से उन्हें तुरन्त छः नये न्यायाधीश नियुक्त करने का अधिकार मिल जाता क्योंकि उच्चतम न्यायालय के नौ न्यायाधीशों में से छः अभी ही सत्तर वर्ष की आयु पार कर चुके थे। इस तरह राष्ट्रपति को उदारपंथी दार्शनिक दृष्टिकोण वाले न्यायाधीश नियुक्त करने की छूट मिलती जो न्यायालय में उस समय पदासीन अल्पमत उदारपंथी न्यायाधीशों जैसा दृष्टिकोण अपना सकने और ईमानदार तथा साहसी नेतृत्व दे सकते। अब यह आश्वस्त करने का रास्ता खुल गया था कि न्यायालय में उदारपंथ का निर्णायक बहुमत होगा जो निश्चय ही नव व्यवहार के मुख्य फैसलों को वैध घोषित कर सकेगा।

रूज़वेल्ट की योजना से पूरे अमरीका में एक ओर समाचारपत्रों की तरफ से और दूसरी ओर वकीलों के संगठनों की तरफ से व्यापक विरोध उठ खड़ा हुआ। न्यायालय की हठधर्मी और प्रगतिशील कानूनों को अवैध करार देने के उसके इरादे के कारण जो कठिन समस्याएं पैदा हो गयी थीं उनको हल करने के लिए राष्ट्रपति ने जिस प्रकार स्पष्टतावादी रूप में और ईमानदार तरीके से कदम उठाया था, उसको रूढ़िवाद के ये परम्परागत गढ़ बर्दाश्त न कर सके।

प्रश्न इतना ही नहीं है कि जब न्यायाधीशों के सामने प्रस्तुत प्रश्नों पर फैसले दिये जाते हैं तब वे विवेक और तर्कबुद्धि का उपयोग करते हैं। यह कैसे हुआ कि नौ में से चार न्यायाधीशों ने लगातार, और एक बार भी भटके बिना, एक ही पक्ष में, यानी नव व्यवहार कानून के विरोध में, वोट दिया, और इसी प्रकार लगातार तीन अन्य विद्वान न्यायाधीशों ने दूसरे पक्ष में, यानी नव व्यवहार कानूनों को वैध मानने के लिए वोट दिया? कोई भी इतना तर्कहीन नहीं होगा कि वह न्यायाधीश ब्रैंडेस, स्टोन और कार्डोजो पर सरकार का अनुचर होने का आरोप लगाये। और मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं हूं कि रूढ़िपंथी न्यायाधीशों ने जो स्थितियां अपनायी, वे इसलिए थीं कि वे न्यायाधीश किसी व्यक्तिगत तरीके से, किन्हीं असंगत या अप्रासंगिक कारणों से, कार्यपालिका के विरोधी थे। न्यायालय में विभाजन न्यायाधीशों के मस्तिष्कों में विभाजन से पैदा हुआ था। एक तरफ वे लोग थे जो रूढ़िवादी थे जिनका अगर सचमुच आगे बढ़ने में कोई विश्वास था तो धीरे धीरे आगे बढ़ने में ही और उन्हें हानि

1 सीनेट रिपोर्ट्स, ७५वीं कांग्रेस प्रथम अधिवेशन, दस्तावेज नं ७११ पृष्ठ ४१-४८

पता तथा ईमानदारी से यकीन था कि रूजवेल्ट के उग्र कार्यक्रम से अमरीका पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ेगा, और दूसरी ओर उदारपंथी थे जिनका विचार था कि देश को किस रास्ते पर जाना चाहिए इसकी दिशा और व्यापक नीतियां निर्धारित करना सत्तारूढ पार्टी का काम है और उन्हें उन करोड़ों लोगों की आकांक्षाओं से हमदर्दी थी जिन्होंने रूजवेल्ट को सत्तारूढ बनाया था।

दो बड़े फैसलों की जरा विस्तार से परीक्षा करना लाभदायक होगा।

पहला फैसला था कृषि समजन कानून के विषय में। यह कानून संसद ने बिक्री के लिए आने वाली कृषि उपजों की संख्या कम कर उस कीमत को बढ़ाने के लिए पास किया था जो खेतिहर अपनी फसल तथा अन्य उपजों के लिए पा रहे थे। इस उद्देश्य से, अमल में सरकार ने किसानों को कम अनाज पैदा करने के लिए एक रिश्वत दी थी ताकि ऐसे फालतू भण्डार न बच रहें जिनके कारण खेती की जिन्सों की कीमत कम रहती थी। इन सहायता कार्यों के लिए दी जाने वाली रकम एक उत्पादन शुल्क से आनी थी जो खेतिहरों पर नहीं, उन खाद्य सामग्री निर्माताओं पर लगाया गया था जो खेती की उपज को, प्रथम चरण में, खाद्य-सामग्री बनाने के लिए हाथ में लेते थे। स्वाभाविक था कि खाद्य सामग्री निर्माता नये कर के विरुद्ध थे और उन्होंने इस कानून की सवैधानिकता को चुनौती दी। और खाद्य निर्माताओं का वकील ज्यॉर्ज व्हार्टन पेप्पर ही था जो एक समकालीन टीकाकार के शब्दों में "न्यायालय के सामने येस्पियन सिपाही की तरह रोया था" और कहा था

> मैं सर्वशक्तिमान भगवान से प्रार्थना करता हूं कि स्वतन्त्र लोगों की भूमि के स्थान पर शृंखलाबद्ध लोगों की भूमि को एक सुयोग्य प्रतिस्थापन के रूप में मेरे जीवन काल में स्वीकार न किया जाय।

शायद यही सम्भाषण था जिससे प्रेरित होकर उच्चतम न्यायालय में हाल के संविधान संशोधन सम्बन्धी मुकदमे में वादी की ओर से मुख्य वकील ने अनगिनत सम्भाषण दिये और चेतावनी दी कि अगर सरकारी पक्ष का मत माना गया तो भारत पतन और विनाश के गर्त में पहुंच जायगा।

उपरोक्त कृषि समजन कानून को रद्द करने वाले बहुमत के फैसले को न्यायाधीश राबर्ट्स ने सुनाया था जिसने उस कानून को अवैध करार देने के लिए एक बड़ा मासूम आधार दिया था अर्थात यह कि कांग्रेस (संसद) को कर लगाने और "आम लोक कल्याण" के लिए उसको खर्च करने का अधिकार है, मगर वह कर लगाने के अधिकार का इस प्रकार उपयोग नहीं कर सकती कि जिससे कृषि उपज का नियमन और उन्नयन करने के सम्बन्ध में राज्यों के अधिकार

म हस्तक्षेप हो क्योंकि यह एकान्तिक रूप से राज्यों के अधिकार क्षेत्र में है, संघ सरकार के क्षेत्र में नहीं।

उस मामले मे अल्पमत के फैसले को सुनाते हुए न्यायाधीश स्टोन ने ही एक ओर कार्यपालिका तथा संसद और दूसरी ओर न्यायालय की कार्य प्रणाली के विषय मे उदार दृष्टिकोण का सार अत्यन्त स्पष्ट रूप से पेश किया था। उन्होंने कहा

न्यायालय ही सरकार की एकमात्र ऐसी एजेंसी नही हैं जिनकी शासन-क्षमता को मान लेना चाहिए

और

शक्ति के हमारे द्वारा उपयोग पर एकमात्र प्रतिबंधन है तो हमारी अपनी आत्म संयम की भावना।

इसलिए स्टोन ने टीका की

यह सुझाव कि उसमें (सरकार की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति म जिसका कि वह अपनी इच्छा के अनुसार इस्तेमाल करती है) अब न्यायिक आज्ञा द्वारा कटौती करनी होगी क्योंकि उसके अविवेकपूर्ण उपयोग द्वारा उसका दुरुपयोग हो सकता है तक को सम्मानजनक नही बना सकता। इसी प्रकार न्यायिक शक्ति का भी दुरुपयोग किया जा सकता है। सरकार सम्बन्धी हमारे महान चार्टर की व्याख्या अगर किसी ऐसी पूर्वधारणा के अनुसार की जाती है कि हमारी संस्थाओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी सरकार की तीन शाखाओं म से किसी एक की एकान्तिक चिन्ता का विषय है या एकमात्र वह ही उसको विनष्ट होने से बचा सकती है तो दीर्घ अवधि म अधिक सम्भव यही है कि उससे 'अविनाशी राज्य की एक अविनाशी व्यष्टि' के निर्माता संस्था का सफाया हो जाय—बजाय इसके कि स्पष्टतावादी रूप से यह माना जाय कि भाषा एक संविधान तक की भाषा का अर्थ वही हो सकता है जो वह कहता है।

दूसरा उदाहरण उस तौर तरीके का है जिसके जरिये एक और जीवन्त व्यवहार कानून विद्वमिनस कायना कानून को अवैध बनाने के लिए न्यायिक वीटो (निषेधाधिकार) का उपयोग किया गया था इस कानून से

उस बीमार उद्योग मे उत्पादन, कीमत और वेतन का नियमन इस प्रकार किया गया था कि इस कानून का लघु राष्ट्रीय उद्योग पुनर्जीवन कानून कहा जाता था जिसको भी न्यायालय ने रद्द कर दिया था। यह कानून जिस उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनाया गया था, यानी एक ऐसे उद्योग को नियन्त्रित करना जो सर्वांगत बीमार था, उसके विषय म यह सटीक और सुस्पष्ट था। और स्वाभाविकतया जो कोयला व्यवसायी कोयला खान उद्योग को तोड़न फोड़ने के लिए हर प्रयत्न कर रहे थे, वे इसके कट्टर विरोधी बन गय।

यह नोट करना दिलचस्प है कि न्यायाधीश सदरलैण्ड ने, जिन्होंने इस नव व्यवहार कानून को अवैध करार देने का बहुमत फैसला सुनाया था, इस कानून का वर्णन करने में "कुत्सित" और "अवाछनीय" जैसे शब्दों का उपयोग किया था, हालांकि अन्तत उसका अवैध करार दिया गया था एक विशुद्ध क्रियात्मक आधार पर, यानी कि उसस "अन्तर्राज्यीय वाणिज्य" की धारा का उल्लघन होता था।

यह नोट करना भी दिलचस्प है कि अन्तर्राज्यीय वाणिज्य की यह धारा हड़ताली कोयला खान मजदूरों को जेल की सजा देने वाले सघीय न्यायाधीशों को रोकने के लिए कभी आधार नहीं बनायी गयी। हालांकि कोयला पैदा करने वाले हर प्रमुख राज्य न कानून के समर्थन म अपने बयान दिय और अनुरोध किया कि इस मामले को हल करने का अधिकार राज्यो के हाथ म सौंपने के बजाय उस पर राष्ट्रीय सरकार को नियत्रण करने का अधिकार दिया जाय तब भी इन सभी प्रार्थनाओ के बावजूद न्यायाधीशो के बहुमत ने घोषणा की कि कोयला खान उद्योग "एक स्थानीय व्यापार" है और इसलिए 'सघीय नियमन राज्यो के अधिकारो पर एक हमला है।"

यह स्थिति थी १९३६ के प्रारम्भ मे। राष्ट्रपति पद के चुनाव का अगला दौर आने वाला था जो नवम्बर १९३६ म होना था। और रूजवेल्ट के विरोधियो ने अपने कार्यक्रम मे हमले का मुख्य सूत्र रखा था सविधान के प्रति रूज वेल्ट की अवमानना जैसा कि न्यायालय द्वारा अधिकाश नव व्यवहार कानूनो को लगातार और सुस्पष्ट रूप म वीटो किये जाने से प्रकट था। रूजवेल्ट का विरोध करने और न्यायालय को एक उच्च 'शिखर' पर पहुचाने के उद्देश्य स "स्वतन्त्रता सघ" के नाम से प्रतिक्रियावादियो का एक सगठन समूचे अमरीका म स्थापित किया गया था। इस स्वतन्त्रता सघ का मुख्य वक्तव्य यह था कि एक ओर न्यायालय जिसकी वे आसमान तक तारीफ कर रहे थे और दूसरी तरफ रूज-वेल्ट जिनकी निन्दा के लिए कैसे भी शब्द उन्हें काफी सशक्त नही लगते थे— इनके बीच सम्बन्धो को चुनाव अभियान का केन्द्रीय मुद्दा बनाया जाय।

किन्तु सकट उस समय सचमुच उभर आया जब कि न्यूयार्क द्वारा पास

किया गया मजदूरनियो के न्यूनतम वेतन सम्बन्धी कानून को न्यायालय मे चुनौती दी गयी।

यह ऐसा कानून था जिसको डेमोक्रेटिक (रूजवेल्ट की) पार्टी तथा रिपब्लिकन पार्टी (जिसको अधिक रूढिवादी पार्टी माना जा सकता है), दोनो का समथन प्राप्त था। उच्चतम न्यायालय ने इसको इस आधार पर रद्द किया कि इससे चौदहवें सशोधन, यानी इकरारनामे की स्वतन्त्रता, का उल्लघन होता है।

एक अथ मे न्यायालय के इस रुख से सारे देश को धक्का लगा और जब डेमोक्रेटिक पार्टी के सम्मेलन मे रूजवेल्ट को हषध्वनि के साथ नामजद किया गया, तब न्यायाधीशो पर आक्षेप किया गया कि उन्होंने नव व्यवहार को "तकनीकी सख्ती द्वारा और पुराने पड गये आर्थिक मनमानेपन को लागू करके ताक पर रख दिया है।"

यही भावना थी जिसके साथ अमरीकी जनता ने नवम्बर १६३६ के चुनाव मे भाग लिया। चुनाव म रूजवेल्ट को भारी बहुमत प्रदान किया गया जिसमे दो राज्यो, वरमोण्ट और मेन, को छोड कर अमरीका के सभी राज्यो ने उनका साथ दिया।

इस विराट समथन से सशक्त होकर रूजवेल्ट जजो के किये को मिटाने का सकल्प लेकर फिर सत्तारूढ हुए। और इस बात को उन्होने ६ माच १६३७ को अपनी जनता के नाम प्रसारित एक अत्यन्त स्फूर्तिप्रद भाषण म स्पष्ट कर दिया। उस भाषण मे, जो पढने म आज भी उतना ही सबल लगता है जितना कि ३६ वष पहले था उन्होने घोषणा की

जब काग्रेस (ससद) ने राष्ट्रीय कृषि को स्थिर बनाने, मजदूरो की हालत सुधारने अनुचित होड से व्यापार की रक्षा करने, हमारे राष्ट्रीय साधनो को सुरक्षित बनाने तथा अन्य अनेक उपायो स स्पष्टतया राष्ट्रीय आवश्यकताए पूरी करने का प्रयत्न किया, तो न्यायालय का बहुमत काग्रेस के इन कानूनो की विवेकनिष्ठता पर फसले देने और इन कानूनो म लिखी गयी सावजनिक नीति को स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अधिकार ग्रहण करने लगा है। यह सिफ मेरा ही आक्षेप नही है। यह वतमान उच्चतम न्यायालय के अत्यन्त सम्मानित न्यायाधीशो का भी आक्षेप है। इन असहमतिमूलक मतो के सामने, न्यायालय के कुछ सदस्यो के इस दावे का कोई आधार नही है कि सविधान की किसी चीज ने उन्हें जनता की आकाक्षा को खेदपूवक अवरुद्ध करने के लिए विवश किया है। अपने न्यायिक कार्याधिकार का उचित उपयोग करने के अतिरिक्त न्यायालय ने

सविधान मे ऐसे शब्द और निहितार्थ पढते हुए, जो उसमे नही है और जिनको वहा रखने का कभी किसी का इरादा भी न था, अपने को काग्रेस के एक तीसरे सदन—एक महा सदन (सुपर लेजिस्लेचर), जैसा कि न्यायाधीशो मे से एक ने कहा भी है—के रूप मे अनुचित ही स्थापित कर लिया है। इसलिए हम एक राष्ट्र के रूप मे एक ऐसे बिन्दु पर पहुच गये हैं जहा हमे न्यायालय से सविधान को बचाने और न्यायालय को स्वय उससे बचाने के लिए कार्यवाही करनी पडेगी। हम अपील को उच्चतम न्यायालय से स्वय सविधान के सामने ले जाने का रास्ता निकालना पडेगा। हम ऐसा उच्चतम न्यायालय चाहते हैं जो सविधान के मातहत —उसके ऊपर नही—न्याय करेगा। अपनी अदालतो मे हम कानून की सरकार चाहते है, कुछ आदमियो की नही। मैं चाहता हू—जैसा कि सभी अमरीकी चाहते हैं—कि एक स्वतत्र न्यायपालिका हो, जैसा कि सविधान के निर्माताओ ने प्रस्तावित किया था। इसका अर्थ है ऐसा उच्चतम न्यायालय जो सविधान को जैसा कि वह लिखा गया है उसी रूप मे लागू करे और जो न्यायिक अधिकारो के मनमाने उपयोग द्वारा सविधान को सशोधित करने से—न्यायिक कथनी द्वारा सशोधन से—इनकार कर दे। इसका अर्थ ऐसी स्वतत्र न्यायपालिका नही है कि वह सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत तथ्यो के अस्तित्व तक को न माने। जो लोग इस योजना के विरोधी हैं, वे यह चीख पुकार मचा कर कि मैं उच्चतम न्यायालय को 'दफा करने' का प्रयत्न कर रहा हू और इससे एक विपाक्त दृष्टान्त बन जायगा पूर्वग्रह और भय जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'न्यायालय को दफा करने' शब्दो से उनका क्या मतलब है? इस प्रश्न का मुझे सुस्पष्ट तरीके से जवाब देने दीजिए ताकि मेरे उद्देश्यो के विषय मे ईमानदारी से पैदा हुई सभी गलतफहमिया खत्म हो जायें। अगर इन शब्दो से यह अभियोग लगाया जाता है कि मैं न्यायालय मे ऐसे लोग बैठाना चाहता हू जो बेरीढ कठपुतलियो की तरह होंगे, जो कानून की अवहेलना करेंगे और खास मामलो पर जैसा मैं चाहूगा वैसा फैसला देंगे, तो मेरा जवाब यह है उच्चतम न्यायालय मे इस किस्म के व्यक्तियो को न तो अपने पद के योग्य कोई राष्ट्रपति नियुक्त कर सकता है और न अपने पद के योग्य सम्मानित व्यक्तियो की सीनेट उनकी नियुक्ति की पुष्टि कर सकती है। लेकिन अगर इन शब्दो से यह अभियोग लगाया जाता है कि मैं न्यायालय के वर्तमान ऐसे सदस्यो के साथ, जो उन आधुनिक परिस्थितियो को समझते हैं, बैठने के सुयोग्य न्यायाधीशो को नियुक्त करूगा और सीनेट उनकी पुष्टि करेगी, कि मैं ऐसे न्यायाधीशो

को नियुक्त करूंगा जो कानून सम्बन्धी नीति पर कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध व्यवस्था देने का प्रयत्न नहीं करेंगे, कि मैं ऐसे न्यायाधीश नियुक्त करूंगा कि जो न्यायाधीशों की तरह काम करेंगे, कानून निर्माताओं (संसद सदस्यों) की तरह नहीं—अगर एस न्यायाधीशों की नियुक्ति को वे 'न्यायालय को दफा करना' कहते हैं तो मैं और मेरे साथ अमरीकी जनता का विशाल बहुमत ठीक यही काम करेंगे—अभी ही।[1]

इन्दिरा गांधी ने बैंक राष्ट्रीयकरण कानून के साथ एक नयी प्रक्रिया—आर्थिक कार्यक्रम और कार्यवाही के लिए एक नया तथा अधिक उग्र चिन्तन—शुरू किया। और यहां भी, न्यायालय ने उसको रद्द कर दिया।

उन्होंने पुरानी व्यवस्था के अवशेष रजवाड़ों के खिलाफ एक आदेश जारी किया। न्यायालय ने उसको भी रद्द कर दिया।

अमरीका में रूजवेल्ट ने १९३६ का चुनाव लड़ा और उस समय जिन मुख्य प्रश्नों में से एक पर जनता को फैसला देना था, वह था न्यायालय के अधिकार और कार्यपालिका के अधिकार का प्रश्न। जनता ने निराशा की भविष्यवाणी करने वाले अनेक पैगम्बरों की इस चेतावनी के बावजूद कि रूजवेल्ट देश को महानाश की ओर ले जा रहे हैं रूजवेल्ट को वोट दिये।

इसी तरह भारत में १९७१ के आरम्भ में इंदिरा गांधी चुनाव में उतरीं और मुख्य प्रश्न में से एक यह था कि संविधान में संशोधन किया जाना चाहिए या नहीं और क्या न्यायालय द्वारा अवैध ठहराये गये कानूनों को संविधान ग्रंथ में पुनः शामिल किया जाना चाहिए या नहीं। और यहां भी अनेक निराशावादियों ने, विशेषकर समाचारपत्रों ने इंदिरा गांधी की महापराजय की भविष्यवाणी कर दी फिर भी जनता ने काफी पैमाने पर समर्थन दिया और स्वतंत्रता के बाद से जितनी चुनाव जीतें देखने को मिली हैं उन सबसे अधिक भारी जीत दी।

लेकिन जहां रूजवेल्ट ने अदालत को 'दफा करने' जैसा अत्यंत उग्र और क्रान्तिकारी प्रस्ताव पेश किया तथा 'न्यायालय को दफा करने' के इस प्रस्ताव के लिए अपने समस्त समर्थकों का अनुमोदन प्राप्त किया, वहां भारत में सिर्फ इतना ही हुआ कि तीन न्यायाधीशों का अधिक्रमण किया गया और चौथे को जो स्वयं सम्मानित न्यायाधीश हैं भारत का मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त कर दिया गया।

१ ९ मार्च १९३७ को राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रसारित भाषण का अंश मेरिस सीरवाई की अंग्रेजी पुस्तक 'दि कांस्टीच्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया', पृ १०८८

निस्सदह, "यायालय को दफा करने" सम्बधी रूजवेल्ट के प्रस्ताव का भी अमरीका की अधिक रूढिवादी शक्तिया की ओर स, जिनम सीनेट की यायिक समिति और कई वकील सघ भी थे, विरोध के तूफान से स्वागत किया गया। किन्तु १९३६ म उनकी चुनाव विजय के बाद दो यायाधीशो न जो पहले उनके विरोधी थे (मुख्य यायाधिपति ह्यूजेस और यायाधीश राबट स), तीन उदारपथी यायाधीशा (ब्राडेइस, कार्डोज़ो और स्टोन) का साथ दिया और उनके सभी निर्णायक कानूना को वैध कर दिया। स्थिति मे इस परिवतन से यायालय म उदारपथिया का बहुमत हो गया (९ म से ५) और इसमे रूजवेल्ट का प्रस्ताव अनावश्यक हो गया। किन्तु, अगर ऐसा न हुआ होता, तो इस सकट पर एक लेखक के शब्दो म

> फिर भी तमाम शोरगुल के बावजूद राजनीतिक दबाव से योजना पास हो गयी होती अगर इस बीच ह्यूजेस (मुख्य यायाधिपति—मो कु) उन सबसे अधिक चालाक राजनीतिज्ञ न सिद्ध हो गया होता।[1]

रूजवेल्ट के काल की उन तूफानी घटनाओं से क्या हमे भारत के लिए कुछ सबक नही निकालने चाहिए और क्या हम ये सबक नही निकाल सकते ?

●

१ स्पष्ट ही यहा हवाला दिया जा रहा है मुख्य न्यायाधिपति के उदारपथी पक्ष में शामिल हो जाने के विषय में उद्धरण है फ्रेड रोडेल की पुस्तक 'नाइन मेन' से पृ २४८

६ न्यायाधीशों का दर्शन

दो न्यायाधीशों, न्यायाधीश हेगडे और न्यायाधीश राय के "दर्शनों" में अंतर को समझने के लिए यह दिलचस्प होगा कि किन्हीं मूल प्रश्नों पर उनके विचारों की परीक्षा की जाय जो उनके हाल के फैसलों में व्यक्त हुए हैं।[1]

पहले, आइए हम संसद की प्रभुसत्ता पर उनके विचारों को लें—इस प्रश्न पर कि अनुच्छेद ३६८ के मातहत संविधान में संशोधन के अधिकार का उपयोग करते हुए क्या संसद जनता की इच्छा की प्रतिनिधि के रूप में काम करती है।

न्यायाधीश हेगडे अपने विचार को इस प्रकार पेश करते हैं[2]

> हमने पहले देखा है कि हमारी चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत, अगर एक पार्टी चुनाव में डाले गये वोटों का सम्पूर्ण बहुमत न पा सके तब भी उसके लिए संसद के दोनों सदनों में दो तिहाई बहुमत प्राप्त कर लेना सम्भव है।

१ १९७२ की प्रादेश याचिका नं० १३५—धर्माधिराज केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य जिसका फैसला २४ ४ १९७३ को सुनाया गया था

२ मैं यहां उल्लेख कर दूं कि एक ओर न्यायाधीश हेगडे और दूसरी ओर न्यायाधीश शेलत तथा ग्रोवर के विचारों में बहुत कम अन्तर है इसलिए मैं अपने को न्यायाधीश हेगडे के विचारों तक सीमित रख रहा हूं

इस दाव का कि ससद सदस्यो का बहुमत या ससद के दो तिहाई सदस्य भी राष्ट्र की ओर से बोलते है, कोई तथ्यगत आधार नही है। वास्तव मे मतदाताओ का विश्वास खो देने के बाद भी एक शासक पार्टी के लिए महत्वपूर्ण सवैधानिक सशोधन पास करा लेना सम्भव हो सकता है। लोक सभा के सदस्य पाच वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है। शासक पार्टी या उसके सदस्यो को अपने पद की पूरी अवधि तक मतदाताओ का विश्वास प्राप्त रह सकता है, और नही भी रह सकता। इसलिए यह कहना सही नही होगा कि जब भी ससद सविधान म सशोधन करती है, तो उसको जनता की इच्छा के अनुसार माना जाना चाहिए।

न्यायाधीश राय का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। पहले वह कहते हैं

सविधान मे सशोधन करने वाला सगठन जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

अन्यत्र वह यह भी टीका करते है

पहला और सबमे प्रमुख रक्षोपाय है विधानमण्डल का सद्विवेक और समुदाय का स्वयभू सद्विवेक

और तब वह टीका करते है

नागरिक का चरित्र, विधानमण्डल का चरित्र, प्रतिनिधियो मे जनता की आस्था और राष्ट्र के प्रति प्रतिनिधियो का उत्तरदायित्व—इनसे अच्छा दूसरा कोई रक्षोपाय नही है। जनता के प्रतिनिधियो पर कोई अनुत्तरदायित्व भावना मढी नही जा सकती और न वह उनका दुगुण बतायी जा सकती है।

इन दो न्यायाधीशो के दो बिल्कुल विरोधी दृष्टिकोणो से उनके अपने उपागम तथा दशन के बीच मूलभूत अन्तर तीखे और स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं। एक ओर न्यायाधीश हगडे यह भी मानने को तैयार नही कि ससद जनता की, या जनता की इच्छा तक की प्रतिनिधि है, दूसरी ओर न्यायाधीश राय का स्पष्ट मत है कि ससद जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है और जनता के प्रतिनिधि के रूप म काय करने पर ससद पर अनुत्तरदायित्व की किसी भावना का दोष नही मढा जा सकता।

अपने विश्लेषण म न्यायाधीश हेगडे हमारी चुनाव व्यवस्था के मूल आधार को ही चुनौती दे वैठते है, "जनता का प्रतिनिधि" होने के लिए यह कोई पूर्वा वश्यकता नही है कि एक व्यक्ति को अपने चुनाव क्षेत्र मे बहुमत वोट मिलें, आवश्यक है तो यह कि उसको सबसे अधिक संख्या मे वोट मिलें। यह बात उन सभी देशो के लिए सच है जहा सानुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था स्वीकार नही की गयी है—और इनम हैं ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि। कारण यह कि यदि इस तर्क को उसके तार्किक अन्त तक ले जाया जाय तो इसका अर्थ होगा कि भारत जैसे देशो मे जनता के 'प्रतिनिधि" बहुत कम है क्योकि बहुत कम ही उम्मीदवार बहुमत वोट प्राप्त कर पाते हैं।

किन्तु न्यायाधीश हेगडे के तर्क की धारा स्पष्ट है। ससद जनता का प्रतिनिधि होने का दावा नही कर सकती इसलिए जब कभी न्यायाधीश आवश्यक समझें तब इस प्रतिनिधित्वशून्य ससद से जनता की रक्षा का काम न्यायाधीशो को करना चाहिए। इस प्रस्थापना को वह इस प्रकार पेश करते हैं

> जो अधिकार स्वय जनता के विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सकता हो, उसको ऐसा अधिकार नही माना जा सकता कि उसका जनता की ओर से या *जनता के हित मे उपयोग किया गया है। (जोर मेरा)।*

यही है इस प्रश्न का केन्द्र बिन्दु। क्या ससद को यह निर्णय लेने का अधिकार है कि अनुच्छेद ३६८ के मातहत सशोधन के अधिकार को वह जनता के हित म, उसके लाभ के लिए, इस्तेमाल कर रही है या नही—यह ऐसा प्रश्न है जो सारत राजनीतिक है और केवल राजनीतिक है। या यह काम किसी और अधिकारी को, न्यायाधीशो को, करना चाहिए, जिनके बारे मे कहा जा *सकता है कि वे निश्चय ही ससद स अधिक* जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकते।

इसके विपरीत न्यायाधीश राय की स्थिति स्पष्ट है, अर्थात यह कि हमारे सविधान के अन्तगत प्रश्न को अगर कानूनी सवैधानिक दृष्टिकोण स देखा जाय तो ससद ही जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है।

२५वें सशोधन की परिधि के बारे म दोनो न्यायाधीशो के दृष्टिकोण से भी उनका 'दर्शन' प्रकट होता है।

२५वें सशोधन म जो विचाराधीन प्रश्न था, वह था 'प्रतिकर" (मुआवजा) शब्द की जगह 'राशि" शब्द का रखा जाना जिससे ससद का इरादा था कि सावजनिक कार्यों के लिए जिस व्यक्ति की सम्पत्ति राज्य ने अधिग्रहीत की है उस एक राशि के रूप म जो कुछ अदा किया जा रहा है उससे सम्बन्धित सभी

मामले को निश्चित रूप से न्यायिक परीक्षण की सीमा से बाहर कर दिया जाय।

जिस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न किया जा रहा था, वह संविधान परिषद के सामने जवाहरलाल नेहरू द्वारा पेश किये गये उद्देश्य से भिन्न नहीं था, यानी यह कि न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बाहर रखा जाय—सिवा एसे मामलों के जहां अदा की जाने वाली राशि (या मुआवजा—उस समय इसी अर्थ का शब्द संविधान में रखा गया था) भ्रामक हो या संविधान के विरुद्ध एक धोखा हो।

आइए, हम देखें कि दो न्यायाधीश इस प्रश्न पर क्या विचार प्रकट करते हैं।

न्यायाधीश हगडे महसूस करते हैं कि संशोधन के बाद भी स्थिति निम्न-लिखित रहती है

> न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता कि जो कुछ अदा किया गया है या अदा किया जाना है, वह मुआवजा है या नहीं। वह इस प्रश्न पर ही विचार कर सकता है कि विवादग्रस्त "राशि" मनमाने तरीके से निश्चित की गयी या भ्रामक है या अदा की जाने वाली "राशि" निर्धारित करने के उद्देश्य से जो सिद्धान्त निश्चित किये गये उनका अधिग्रहीत या अर्जित सम्पत्ति के मूल्य से तर्कसंगत सम्बन्ध है या नहीं।
> (जोर मेरा)।

अब अगर न्यायालय को यह निश्चित करने का अधिकार है कि 'राशि' का सम्पत्ति के मूल्य से "तर्कसंगत सम्बन्ध" है या नहीं तब निश्चय ही इस मामले की जांच करने में न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। कारण यह कि संसद को जो बात 'तर्कसंगत सम्बन्ध' लगती हो, वही न्यायाधीश हगडे को तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं भी लग सकती है। और इससे भी बड़ी बात यह कि "तर्कसंगत सम्बन्ध' शब्दावली की व्याख्या करना क्या अत्यन्त कठिन नहीं है? क्या इससे हम एक बार फिर विवाद के दलदल में नहीं फंस जायेंगे जिसमें कि हम अपने फैसले के सही होने के बारे में अनिश्चित बने रहेंगे, क्योंकि समझ में आने वाली कोई ऐसी कसौटियां नहीं हैं जिनसे इस 'तर्कसंगतता' को परखा जा सके?

न्यायाधीश राय का दृष्टिकोण भिन्न है। वह कहते हैं

> राशि निश्चित करने में विधानमण्डल सविधि अधिकारों की आम प्रकृति

के अनुसार कार्यवाही करेगा। सिद्धान्त का उल्लंघन किया जा सकता है। राशि निश्चित करने में विधानमण्डल जिस सिद्धान्त पर अमल कर सकता है, उसमें अधिग्रहीत सम्पत्ति के मूल्य की बराबरी के मुआवजे सामाजिक न्याय का विचार शामिल किया जा सकता है। सामाजिक न्याय की विचारणा में समग्र निदेशक सिद्धान्त विशेषकर अनुच्छेद ३९ (ख) और (ग) में प्रतिपादित सिद्धान्त शामिल होंगे। इन सिद्धान्तों का उद्देश्य जनसाधारण के कल्याण की व्यवस्था करना और सामाजिक शान्ति कायम रखना है। पर्याप्तता का प्रश्न संविधान के चौथे संशोधन कानून द्वारा अनुच्छेद ३१ (२) से बाहर कर दिया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि राशि निश्चित करने के मामले में विधानमण्डल को पर्याप्तता के प्रतिमान की व्यवस्था करने की आवश्यकता होगी। राशि की पर्याप्तता और इसी राशि को किस तरह दिया जाता है इसके न अन्य रूप में उसके तरीके के प्रश्न पर संविधान किसी कानून को चुनौती देने की इजाजत नहीं देता।

इस प्रश्न पर दोनों न्यायाधीशों के दृष्टिकोणों का सार यह है कि एक ओर न्यायाधीश हेगड़े किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिग्रहण के कानून को, अगर यह पाया जाय कि उस कानून द्वारा दी जाने वाली राशि का अधिग्रहीत सम्पत्ति से "तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं है", अवैध घोषित करने का अधिकार न्यायालय के पास सुरक्षित रखते हैं। इसके विपरीत न्यायाधीश राय कहते हैं कि न तो पर्याप्तता की परीक्षा की जा सकती है और न राशि निश्चित करने में विधानमण्डल द्वारा निश्चित प्रतिमान की जांच की जा सकती है। उनके मतानुसार "न्यायालय द्वारा राशि" के आधार की जांच का प्रश्न संविधान के चौथे संशोधन कानून द्वारा और उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से २५वें संशोधन द्वारा न्यायिक विचार क्षेत्र से बाहर कर दिया गया है तथा यह सिर्फ विधानमण्डल के विचार-क्षेत्र का प्रश्न है।

अन्त में, आइए हम अनुच्छेद ३१ ग पर दोनों न्यायाधीशों का दृष्टिकोण देखें। यहां पहले इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इस अनुच्छेद का सार यह है कि अनुच्छेद ३९ (ख) और ३९ (ग) में प्रतिपादित निदेशक सिद्धान्तों को यह मूल अधिकारों से ऊपर रखता है। इससे व्यक्ति के अधिकार, समाज की आवश्यकताओं के आधीन कर दिये गये हैं।[1]

१ इस सीमित प्रश्न पर कि संविधान में अनुच्छेद ३१ ग जोड़ते समय संसद जनता के प्रतिनिधि के रूप में काम कर रही थी या नहीं, मतदान के अंक जान लेने वाले हैं। लोक सभा में इस संशोधन के समर्थन में ३८३ सदस्यों ने मत दिये और विरोध में केवल २० ने। राज्य सभा में १६६ ने समर्थन में मत दिये और विरोध में केवल २० ने।

स्पष्ट ही, इस प्रकृति का निणय राजनीतिक है। ऐसे निणय का समथन या विरोध करने मे जिस बात को ध्यान मे रखना चाहिए वह यह कि ऐसा निणय सिफ राजनीतिक ही हो सकता है। इन निदशक सिद्धान्तो को अमल मे लाने के लिए जिन सम्पत्तिधारियो की सम्पत्ति अधिग्रहण की जाने वाली होती है, वे निश्चय ही यह महसूस कर सकते है कि अनुच्छेद ३१ (ग) बहुत सख्त और दानवी है क्योकि वह उन्हे अनुच्छेद १९ (१) (छ) और अनुच्छेद (३१) (२) के सरक्षण से वचित करता है। किन्तु यह भी मतामत का प्रश्न है—आम अवाम जिनके हितो मे ऐसी सम्पत्ति का अधिग्रहण किया जायगा निश्चय ही अनुच्छेद ३१ ग द्वारा इस अधिग्रहण को दिये गये सरक्षण को सराहेगे।

इस प्रकार सम्पत्ति के स्वामियो के प्रवक्ता अनुच्छेद ३१ ग के विरुद्ध शोर-गुल मचायेंगे जबकि वे लोग जो निदेशक सिद्धान्तो के माग पर तेजी से आगे बढना चाहते है उसका मोत्साह अभिनन्दन करेंगे। किन्तु जिस बात पर मै जोर देना चाहता हू, वह यह है कि दृष्टिकोण कुछ भी हो, मूलत वह राजनीतिक उद्देश्यो पर आधारित एक राजनीतिक दृष्टिकोण होगा।

मगर न्यायाधीश हगडे को इस अनुच्छेद की निन्दा के लिए काफी सख्त शब्द नही मिलते। वह कहते है

> उसके (अनुच्छेद ३१ ग) द्वारा दिये गये अधिकार मनमाने अधिकार है। उसको स्वाथपूण उद्देश्यो के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। उसको भाषण की स्वतन्त्रता शातिपूण सभा करने की स्वतन्त्रता भारत भर मे मुक्त रूप से घूमने की स्वतन्त्रता भारत के किसी भी भाग म रहने और बसने की स्वतन्त्रता सम्पत्ति अधिग्रहण करने उसका स्वामी बनने और उसको बेचने की स्वतन्त्रता तथा कोई भी पशा अपनाने या कोई भी व्यवसाय, व्यापार या सौदा करने की स्वतन्त्रता का गला घोटने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इस व्यवस्था म दिये गय अधिकार निरपक्ष अधिकार हैं। विधानमण्डल का एक छोटा-सा बहुमत भी उस अधिकार को जनतन्त्र को सीमित करने या उसको नष्ट करने तक के लिए इस्तेमाल कर सकता है। वह अधिकार इस देश की अखण्डता का निबल करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। वह अनुच्छेद हमारे सविधान से बिलकुल बमेल है।

न्यायाधीश राय इस मामले को भिन्न तरीके से देखते हैं। वह कहत है

> जिन कानूनो को अनुच्छेद ३१ ग के अन्तगत सुरक्षा प्रदान की गयी है वे अनुच्छेद ३९ (ख) और (ग) के निदेशक सिद्धान्तो का उपलब्ध करन के

कानून है। इस आधार पर कि कोई कानून ऐसी नीति पर अमल नहीं करता, न्यायालय में उसको चुनौती दिए जाने से मुक्त रखने की भावना, कहने का असली कारण यह है कि कानून बनाने की नीति और विवेक का निर्णय विधानमण्डल पर छोड़ा जाए। इस मसले के मूल्यांकन और उन पर फैसला का हक उस भावना द्वारा न्यायिक पुनरीक्षण से बाहर रखने का प्रयास किया गया है।

और आगे

अनुच्छेद ३१ ग का उद्देश्य है सर्वोपरि आदेश द्वारा संसद और राज्य को कानून बनाने का अधिकार देना।

इस प्रकार दोनों न्यायाधीशों के अभिगम में मूल अंतर है। न्यायाधीश हेगड़े की ओर से अनुच्छेद ३१ ग की निंदा हुई। न्यायाधीश राय की ओर से न तो इस अनुच्छेद का समर्थन किया गया और न निंदा बल्कि यह भावना मिली की यह मामला 'कानून बनाने की नीति और विवेक' के क्षेत्र में आता है।

और यहां यह टीका करना गलत होगा कि किसी न्यायाधीश के लिए इस निष्कर्ष पर पहुंचना कि अनुच्छेद ३१ ग 'पूर्णतया हमारे संविधान से बेमेल है' एक राजनीतिक मत मात्र अभिव्यक्त करना है—क्योंकि जिन कारणों से वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे, वे राजनीतिक प्रकृति के हैं।

ऊपर जिन फैसलों के उदाहरण दिए गए हैं उनसे इस प्रकार न्यायाधीशों का दर्शन समझने में सहायता मिलती है। और हम यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि यह दर्शन किन्हीं गहरी शक्तियों के समभाव-दुभाव या प्रभाव से नहीं पैदा होता और न ही किसी बुरे इरादे के कारण। हमारे समय की तूफानी घटनाओं को न्यायाधीश जिस तरीके से देखते हैं यह दर्शन उससे ही पैदा होता है। रूजवेल्ट के दिनों में अमरीका के उच्चतम न्यायालय के चार न्यायाधीश महसूस कर रहे थे कि राष्ट्रपति देश को विनाश की दिशा में ले जा रहे हैं, संविधान की आत्मा को भ्रष्ट कर रहे हैं आदि उसके विपरीत तीन अन्य न्यायाधीश, रूजवेल्ट के सुधारों को कानून निर्मात्री नीति और विवेक के रूप में देखते थे तथा न्यायिक पुनरीक्षण की परिधि के बाहर समझते थे। यही था न्यायाधीशों के दर्शन में अंतर।

आज भारत में स्थिति उससे भिन्न नहीं है। और न्यायाधीशों के फैसलों (अब्राहम लिंकन के शब्दों में उनकी रायों") को निष्पक्ष रूप से पढ़ने पर

निश्चय ही उनके बुनियादी दर्शना, जीवन सम्बन्धी उनके दृष्टिकोणों का वैषम्य प्रकट हो जाता है।

न्यायाधीश हगडे ने, अपने इस्तीफे के लागू हो जाने के तुरन्त बाद, १ मई १९७३ को एक संवाददाता सम्मेलन में जो बयान दिया था, वह उनके दर्शन, उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण, को और अधिक उजागर करता है। उसमें उन्होंने कहा

> जनतंत्र केवल एक सशक्त विरोध पक्ष, जागृत जनमत, आलोचनाशील समाचारपत्र व्यवस्था और स्वतंत्र न्यायपालिका से ही जीवित रह सकता है। लेकिन आज विभिन्न कारणों से कोई सशक्त विरोध पक्ष नहीं है और जनमत को भी जागृत नहीं कहा जा सकता क्योंकि पचास प्रतिशत से अधिक आबादी निरक्षर है। समाचारपत्र भी पाबंदियों से मुक्त नहीं है।

और तब उन्होंने टीका की कि "आप में से अनेक लोग केवल सरकार की सराहना करने को स्वतंत्र हैं।"

अंतत यह कहते हुए कि एक मात्र बची हुई रक्षक शक्ति है एक स्वतंत्र न्यायपालिका, जिसका 'सफाया किया जा रहा है" उन्होंने आह्वान किया कि "जनतंत्र की अभी भी रक्षा की जा सकती है बशर्ते कि जनता जागे, उठ खड़ी हो और अपनी शक्ति का उपयोग करने का प्रयत्न करे।"

इससे क्या प्रकट होता है? निस्संदेह, एक सशक्त विरोध पक्ष, एक विस्तृत और स्वतंत्र समाचारपत्र व्यवस्था और जागृत जनमत महत्वपूर्ण है ताकि सरकार का इतना विरोध और ईमानदारी से इतनी आलोचना हो सके कि जिससे हमारे देश के सामने उपस्थित महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं पर उचित वाद विवाद आश्वस्त हो जाय, और सरकार तथा संसद को ऐसे रास्ते के बारे में जिस पर हमारे देश को चलना चाहिए सही फैसले करने में सहायता मिले।

लेकिन लगता यह है कि न्यायाधीश हगडे के लिए भारत में सिर्फ न्यायालय महत्वपूर्ण है, सिर्फ न्यायालय ही "जनतंत्र के अंतिम रक्षक" हैं।

उनके मतानुसार समाचारपत्र व्यवस्था किसी मसरफ की नहीं है क्योंकि उसको सिर्फ सरकार की सहायता करने की इजाजत है—यह तथ्यों को देखने से इनकार करने की अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है क्योंकि दुनिया के किसी भी देश में समाचारपत्र अपनी बात कहने के लिए इतने स्वतंत्र नहीं हैं जितने कि भारत में। वह यह भी कहते हैं कि हमारी जनता में पचास प्रतिशत लोग

निष्पक्ष है इसलिए प्रत्येक निष्पक्ष निर्णय और विचार नहीं है कि समय
गर्व कि उनके बारे में कही दिया गया है। इसका एक यह फिर भारतीय परिदृश्य के
विषय में उनकी गलतफहमी प्रकट होती है क्योंकि जिस किसी ने भी हमारे
देश के राजनीतिक जीवन में भाग लिया है या हमारी जनता के बीच घूमा
फिरा है जानता है कि हमारी जनता स्वतंत्र रूप से जागृत है और भली भांति
जानती है कि उसका हित क्या है। हम उनके दृष्टिकोण की परिपक्वता और
समझदारी का मान कर जो उसने पिछले चुनावों में प्रदर्शित की जब अत्यन्त
उग्र विरोधी समाचारपत्र जगत और "स्थापित" जनमत के सभी नेताओं की
इन भविष्यवाणियों के बावजूद कि इन्दिरा गांधी का चुनावों में विनाश का
सामना करना पड़ेगा जनता उत्साह से आगे बढ़ी और उनको भारतीय चुनावों
के इतिहास में सबसे अधिक भारी विजय दी।
और अगर अन्त में न्यायाधीश ऐसा कहते हैं कि कोई सशक्त विरोध पक्ष
नहीं है। लेकिन इस मामले में भी जो लोग संसद में बैठते हैं वे उस समय
विरोध पक्ष की सशक्तता प्रखर रोष से देख सकते हैं जब वह सरकार का
मुकाबला करने का सवाल होता है। मगर मामला इतना ही नहीं है कि श्री
हेगड़े भारत और हमारी जनता का उस रूप में वर्णन से इनकार करते हैं जैसी
कि वह है हमारे देश के सामाजिक जीवन का उस रूप में वर्णन से इनकार करते
हैं जिस रूप में वह सक्रिय है और इस बात की सराहना करने से इनकार करते
हैं कि हमारे देश में समाचारपत्रों की भूमिका कितनी सशक्त है।
इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि अपने इन टिप्पणियों में कि यहां
कोई स्वतंत्र समाचारपत्र नहीं है कोई जागरूक जनमत नहीं है और कोई
सशक्त विरोध पक्ष नहीं है वह इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि "जनतंत्र की
अंतिम रक्षक" न्यायपालिका है।
यह निष्कर्ष कहां ले जायगा? इससे कोई भी व्यक्ति इसी स्थिति पर
पहुंचेगा कि न्यायपालिका पर लगाम लगाने वाले सिर्फ न्यायाधीश ही हैं, वह
ही न्यायपालिका पर बराबर नजर रखती और उसका पर्यवेक्षण करती है तथा
उनको उसके एक एक काम को विरोध भाव से जांचना होगा।
क्या न्यायाधीश हेगड़े के इस नजरिये से यह प्रकट नहीं होता कि उनके
लिए एक ओर न्यायपालिका और दूसरी ओर सरकार तथा संसद के बीच
मुकाबले की हालत जारी रखना एक उचित स्थिति है?
इस संदर्भ में यह समझने का महत्त्व रेखांकित होता है कि एक न्यायाधीश
किस प्रकार जीवन को देखता है एक न्यायाधीश और दूसरे के दृष्टिकोण में
अन्तर क्या है और कार्डोजो के शब्दों में, न्यायाधीश के "दर्शन", उसके
"दृष्टिकोण" को ध्यान में रखना क्या एक जीवन्त आवश्यकता है।

७ पदोन्नति और वरीयता

वरीयता के प्रश्न को लेकर तक वितक काफी परिमाण मे बढा है, यानी यह कि यायपालिका की स्वतनता की रक्षा के लिए मुख्य यायाधीश के पद के लिए पदोनति मे वरीयता (सीनियोरिटी) के नियम का पालन परमावश्यक है। अय देशा का अनुभव छोड भी दिया जाय (जिस पर अध्याय ४ मे विस्तार म विचार किया गया है) तो भारत म भी उच्च यायालया के मुख्य यायाधिपति की नियुक्ति या उच्च यायालया स उच्चतम यायालय मे उनत नियुक्ति के मामले मे वरीयता के सिद्धात की अवहेलना भी कोइ कम नही हुई है। म यहा अनेक उदाहरण दे रहा हू और यह सूची किसी भी प्रकार पूरी नही है

(१) बम्बइ उच्च यायालय के यायाधीश जे आर मुधोलकर को उच्चतम यायालय मे ३ १० १९६० मे नियुक्त किया गया। उनको उस समय उच्च यायालया के सभी मुरय यायाधिपतियो के मुकाबले तरजीह देकर चुना गया और विभिन उच्च यायालया के स्थायी यायाधीशो म उनकी स्थिति सातवें नम्बर पर थी।

(२) कलकत्ता उच्च यायालय के यायाधीश आर एस बचावत की नियुक्ति उच्चतम यायालय म ७ ९ १९६४ को की गयी। उनको भी उस समय के सभी उच्च यायालया के मुख्य यायाधिपतियो के मुकाबले

तरजीह देकर उच्चतम न्यायालय म नियुक्त किया गया और विभिन्न न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो मे उनका स्थान दूसर नम्बर पर था।

(३) कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जी के मित्तर को उच्चतम न्यायालय म २६ ८ १९६६ को नियुक्त किया गया। उस समय कलकत्ता उच्च न्यायालय मे उनसे प्रवर (सीनियर) तीन (मुख्य न्यायाधिपति समेत) न्यायाधीश थे और विभिन्न उच्च न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो म उनका स्थान आठवा था।

(४) केरल उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सी ए वैद्यलिंगम को उच्चतम न्यायालय म १० १० १९६६ का नियुक्त किया गया। उस समय स्वय केरल उच्च न्यायालय म दो अन्य न्यायाधीशो (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो मे उनका स्थान तेइसवा था।

(५) पजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ए एन ग्रोवर को उच्चतम न्यायालय म १२ २ १९६८ को नियुक्त किया गया। उस समय पजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय मे ही दो अन्य न्यायाधीशो को (जिनमे मुख्य न्यायाधिपति भी थे) वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो म उनका स्थान उन्तालीसवा था।

(६) कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ए एन राय उच्चतम न्यायालय म १ ८ १९६९ को नियुक्त किये गये। उस समय कलकत्ता उच्च न्यायालय म तीन अन्य न्यायाधीशो (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो म उनका स्थान तीसवा था।

(७) बम्बई उच्च न्यायालय के डी जी पालेकर को उच्चतम न्यायालय म १९ ७ १९७१ म नियुक्त किया गया। नियुक्ति के समय स्वय बम्बई उच्च न्यायालय म पाच अन्य न्यायाधीश (मुख्य न्यायाधिपति समेत) उनसे प्रवर थे और विभिन्न उच्च न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो म उनका स्थान चौंतीसवा था।

(८) केरल उच्च न्यायालय के के के मैथ्यू उच्चतम न्यायालय म ४ १० १९७१ को नियुक्त किये गये। नियुक्ति के समय स्वय केरल उच्च न्यायालय म तीन अन्य न्यायाधीशो (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयो के स्थायी न्यायाधीशो म उनका स्थान ग्यारहवा था।

(९) इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एम एच बेग को उच्चतम न्यायालय म १० ८ १९७१ को नियुक्त किये गये। नियुक्ति के समय स्वय इलाहाबाद

उच्च न्यायालय में दो अन्य न्यायाधीश (मुख्य न्यायाधिपति समेत) उनसे प्रवर थे और विभिन्न उच्च न्यायालयों के स्थायी न्यायाधीशों में उनका स्थान दसवां था।

(१०) कलकत्ता उच्च न्यायालय के ए के मुखर्जी उच्चतम न्यायालय में १४ ८ १९७२ को नियुक्त किये गये। नियुक्ति के समय स्वय कलकत्ता उच्च न्यायालय में तीन अन्य न्यायाधीशों (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयों के स्थायी न्यायाधीशों में उनका स्थान इक्तीसवां था।

(११) बम्बई उच्च न्यायालय के वाई वी चद्रचूड को उच्चतम न्यायालय में २३ ८ १९७२ को नियुक्त किया गया। नियुक्ति के समय स्वय बम्बई उच्च न्यायालय म दो अन्य न्यायाधीशों (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयों के स्थायी न्यायाधीशों में उनका स्थान उन्नीसवां था।

(१२) मद्रास उच्च न्यायालय के ए अलगिरिस्वामी उच्चतम न्यायालय में १७ १० १९७२ को नियुक्त किये गये। नियुक्ति के समय स्वय मद्रास उच्च न्यायालय में पाच अन्य न्यायाधीशों (मुख्य न्यायाधिपति समेत) को उनसे वरीयता प्राप्त थी और विभिन्न उच्च न्यायालयों के स्थायी न्यायाधीशों में उनका स्थान बहत्तरवां था।

(१३) के एस हेगडे को विभिन्न उच्च न्यायालयों के २८ अन्य स्थायी न्यायाधीशों पर तरजीह देकर दिल्ली उच्च न्यायालय में अक्तूबर १९६६ में मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया गया। फिर उन्हें जुलाई १९६७ म उच्च न्यायालयों के तमाम मुख्य न्यायाधिपतियों के मुकाबले, जो सब मुख्य न्यायाधिपति के रूप में उनसे प्रवर थे, तरजीह देकर सर्वोच्च न्याया-लय में नियुक्त किया गया।

(१४) १९४७ म एम सी छागला को उनसे प्रवर के सी सेन का अधि-क्रमण कर बम्बई का मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया गया।

(१५) पी बी मुखर्जी का, जो कलकत्ता उच्च न्यायालय के सबसे प्रवर सदस्य थे, मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के मामले में दो बार अधिक्रमण किया गया। जून १९६१ में एस सी लाहिडी के अवकाश प्राप्त करने के फलस्वरूप कलकत्ता उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधिपति का पद खाली हुआ। हालांकि पी बी मुखर्जी उस समय सबसे प्रवर न्यायाधीश थे, फिर भी किन्हीं कारणों से उन्हें छोड दिया गया और एच के बोस को, जो उनसे अवर (जूनियर) थे, मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया गया। पी बी

मुखर्जी को मार्च १९६६ में फिर छोड़ दिया गया और डी एन सिन्हा को, जो उनसे अवर थे मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त कर दिया गया।

(१६) मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में अक्तूबर १९५९ में मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के लिए प्रवरतम न्यायाधीश टी पी नायक का पी वी दीक्षित द्वारा अधिक्रमण किया गया। उसी उच्च न्यायालय में मार्च १९६६ में पुनः टी पी नायक का अधिक्रमण किया गया जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विशम्भर दयाल को मध्य प्रदेश का मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया गया। स्थायी न्यायाधीश के रूप में विशम्भर दयाल टी पी नायक से अवर थे।

इन सभी अनगिनत उदाहरणों से प्रकट होता है कि प्रत्येक चरण में, वह चाहे किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति का प्रश्न था या उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रश्न, सचयन हमेशा न्यायाधीश के गुणों के आकलन के आधार पर और न्यायालय में उसकी उपयोगिता को ध्यान में रख कर किया गया। वरीयता को एक नियम के रूप में, स्पष्टतया, अधिक महत्व नहीं दिया गया।

इस प्रकार, आम तौर पर उच्च न्यायालयों से उच्चतम न्यायालय में पदोन्नति वरीयता पर आधारित नहीं रही। तो भी यह दलील कभी नहीं दी गयी कि इससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता को क्षति पहुंची है। कोई शिकायत नहीं की गयी कि उच्चतम न्यायालय में अपनी पदोन्नति की आशा कर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ने 'अनुभवा या 'खुशामद' कर कार्यपालिका को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था। इसलिए यह विश्वास करना कठिन है कि जब उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्ति के मामले में वरीयता के नियम का पालन नहीं किया जाता है, तभी न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर पूरी तरह कुठाराघात होता है।

असल में ऐसा लगता है कि यह भय हमारे देश की सर्वोच्च अदालत, उच्चतम न्यायालय, के न्यायाधीशों के बौद्धिक और नैतिक चरित्र की शक्ति के दुर्भाग्यपूर्ण कम मूल्यांकन पर आधारित है। आखिर हम उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पद पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों में से ही नियुक्ति पर विचार कर रहे हैं यानी अपने देश के न्यायिक सोपान के उच्चतम स्थानों के लिए हम लोगों में से चयन पर विचार कर रहे हैं जो अपने उच्च गुणों के लिए सम्मानित हैं। निश्चय ही नाम और अधिकार के इस स्तर पर उच्च पद का प्रलोभन न होगा। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि उच्चतम

पद पर नियुक्ति की आशा म यायाधीश कानून को भ्रष्ट करने और अपने विवेक के विरुद्ध फैसले देने के लिए तैयार होंगे ?

हमारे देश के लिए यह दुखद दिन होगा जब हम यह भय होने लगेगा कि उच्चतर पद की आकांक्षा, अर्थात न्यायाधीश के पद से उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति पद पर पदोन्नति की सम्भावना, उच्चतम न्यायालय मे उनके न्यायिक काम के संचालन के लिए न्यायाधीशों को प्रभावित करेगी और विशेषकर उन्ह सरकार के पक्ष म फैसले देने के लिए प्रभावित करेगी। राज्य सभा मे अपने भाषण म सी के दफ्तरी का यह तर्क कि ए एन राय को मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त करने के सरकार के निर्णय से, और इस प्रकार वरीयता की प्रथा को तिलाजलि दिये जाने से, न्यायाधीशो द्वारा "जूते चाटा जाना' शुरू हो जायगा—हमारे न्यायाधीशो की योग्यता को कतई श्रेय नही दे।

●

८. निष्कर्ष

उन सभी चारा देशों मे जिनके अनुभव की इस मामले मे कुछ विस्तार से परीक्षा की गयी है, राजनीतिक पद (केवल राजनीतिक दृष्टिकोण ही नहीं) को नियुक्ति के लिए अयोग्यता समझना तो दूर रहा, एक योग्यता माना जाता है—उच्च न्यायिक नियुक्ति के लिए सम्भवत निर्णायक योग्यता। हमने अपने देश म इस अभिगम को स्वीकार नहीं किया है और उसको स्वीकार करना शायद हमारी राष्ट्रीय परम्परा के उपयुक्त नहीं होगा।[1]

किन्तु निश्चय ही, जीवन का ज्ञान, ऐसे विचारो और इरादो का ज्ञान जो करोडो के दिमागो को झकझोर रहे हैं, समय की गति के साथ चलने की क्षमता जो लोग बेहतर और सुखदतर जिन्दगी के लिए कशमकश कर रहे है उनकी आकाक्षाओ का सहानुभूति के साथ समझने योग्य दृष्टिकोण—क्या कोई इनकार कर सकता है कि इस उच्च पद के प्रत्येक उम्मीदवार म य सारे गुण भारी परिमाण म होने चाहिए ?

१ किन्तु न्यायाधीश हेगडे ने हाल में बताया था कि सीधे राजनीतिक जीवन से न्यायाधीश पद पर नियुक्तिया भारत में अविदित नहीं ह उनके स्वय के उदाहरण के अतिरिक्त न्यायाधीश भण्डारे, टेकच द तथा न्यायाधीश शकर प्रसाद मित्र जो अब कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति हैं, ये भी उदाहरण हैं मगर आम तौर पर ये अपवाद ह नियम नहीं

प्रश्न पूछा जा सकता है नियुक्ति के लिए सम्भावित व्यक्ति के "दृष्टिकोण", उसके (कार्डोजा के शब्दो मे) "दशन" को परखने के लिए उसको कैसे देखना चाहिए। शायद सर्वोत्तम उत्तर वह है जो जीवन की जननात्रिक प्रणाली के महान अग्रदूत अब्राहम लिंकन[1] ने दिया था। उन्होने इस प्रश्न का निम्नलिखित रीति स उत्तर दिया था

> हम किसी व्यक्ति स यह नही पूछ सकते कि वह क्या करेगा, और अगर वह इसका जवाब दे भी बैठे तो हमे उसके लिए उससे नफरत करनी चाहिए। इसलिए हम ऐसे व्यक्ति को लेना चाहिए जिसके विचार सुविदित हो।

शिकायत की गयी है कि न्यायाधीशो का "अधिक्रमण" किया गया, कि इस नीति से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी, आदि। किन्तु क्या सविधान के अन्तगत सरकार को यह छूट नही मिली हुई है कि एक न्यायाधीश और दूसरे न्यायाधीश के बीच वह जागरूकता से चयन करे, ईमानदारी स और न्यायपूवक इस नतीज पर पहुचे कि उसकी राय मे एक खास व्यक्ति एक अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उपयुक्त, अधिक क्षमतावान और अधिक कारगर मुख्य न्यायाधिपति हो सकता है? इससे न चुने गये व्यक्ति पर कोई आक्षेप नही आता, क्योकि एक सरकार नियुक्ति के लिए सम्भावित व्यक्तियो के "विचारो" का (बकौल अब्राहम लिंकन) अपनी नजर से, अपन चश्मे से, देखती है और कोई दूसरी सरकार उसी मामले को भिन्न तरीके से देख सकती है। लेकिन लाजिमी तौर पर सरकार के ऊपर यह कतव्य आयद है कि वह मामले की सभी कोणो से परीक्षा करे और सबसे अधिक उसको ध्यान देना चाहिए न्यायिक सत्यनिष्ठा तथा कानूनी ज्ञान के साथ उसके "दृष्टिकोण", उसके "दशन" पर यानी इस बात पर कि उसको परिवर्तित भारतीय दृश्य का और जिस दिशा मे देश जाना चाहता है उस दिशा का बोध है या नही।

सरकार को सचयन के इसी कायक्षेत्र का प्रत्येक ऐसे मामले मे सामना करना होता है जहा उसको नियुक्ति का अधिकार है मन्त्रिमण्डल का सचिव, आर्मी स्टाफ का प्रधान, सावजनिक सेवा आयोग का अध्यक्ष—क्या वरीयता से ही सदा यह निर्धारित किया जाता है कि नियुक्ति योग्य कौन व्यक्ति है? या

१ अब्राहम लिंकन ने यह उत्तर उस समय दिया था जब तत्कालीन वित्त सचिव चेज को अमरीका के उच्चतम न्यायिक पद उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त किये जाने पर उन से प्रश्न पूछा गया था

निर्णय करने से पहले क्या सभी सगत पक्षो पर ईमानदारी और सावधानी से विचार किया जाता है और अक्सर ही वरीयता को तिलाजलि दी जाती है, अधिक्रमण होते हैं ?

यही पृष्ठभूमि है जिसमे "अधिक्रमण" हुए हैं और हो सकते हैं, ऐसा हर अंग्रेजी भाषी देश मे हुआ है और कोई कारण नही कि भारत को अपवाद बनाया जाय।

इस सबसे सम्भवत उस अभिगम और उस इरादा की पर्याप्ति तथा ईमानदारी के साथ सफाई हो जाती है कि जिनसे सरकार उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के उच्च पद के लिए न्यायाधीश राय को चुनने मे प्रेरित हुई। और साधारणत मैं किसी पदारूढ न्यायाधीश के गुणा-अवगुणो पर बहस मे पडना उचित नही समझता, खास कर एक ऐसे व्यक्ति के विषय मे जो भारत का मुख्य न्यायाधिपति है। किन्तु चूकि उन पर अनुचित आक्रमण हुए हैं मैं उनकी साख और सत्यनिष्ठा का हवाला दिये बिना नही रह सकता।

मुख्य न्यायाधिपति राय ने १६३६ मे कलकत्ता उच्च न्यायालय मे बरिस्टर की हैसियत से कानूनी जीवन शुरू किया था। वह १६५७ मे कलकत्ता उच्च न्यायालय मे न्यायाधीश और १६६६ मे उच्चतम न्यायालय मे न्यायाधीश नियुक्त हुए। और न्यायाधीश के रूप मे उनका कार्य-जीवन न सिर्फ लम्बा, बल्कि विशिष्टतापूर्ण रहा है।

यह आरोप झूठा है कि उन्हें मुख्य न्यायाधिपति इसलिए नियुक्त किया गया कि उन्होंने उन तीन बडे मुकदमो मे जिनका उन्होने फैसला किया—पहला बैंक राष्ट्रीयकरण का, दूसरा, प्रिवी पर्स का और तीसरा, हाल का बडा सवैधानिक मामला—उन्होंने सरकार के पक्ष मे फैसला देकर उसको अनुग्रहीत किया।

यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि जहा तक बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रिवी पर्सों के मुकदमे का सम्बन्ध है न्यायाधीश राय के फैसले मे मूलत उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित पिछली कानूनी स्थितियो की पुष्टि ही थी—उन स्थितियो की पुष्टि जिन्हे दुर्भाग्य से बहुमत ने मन्सूख कर दिया था और अग्राह्य बताया था। इसलिए इन मामलो मे न्यायाधीश राय के विचारो को ऐसा मानना कि वे सरकार की इच्छाओ को ध्यान में रख कर व्यक्त किये गये थे, जानबूझ कर और बेईमानी के साथ उनको बदनाम करना है।

और हाल के सवैधानिक मुकदमे मे न्यायाधीश राय गोलकनाथ मुकदमे को मन्सूख करने मे नौ अन्य न्यायाधीशों के साथ थे और २४वें तथा २५वें सशोधनो की वैधता का अनुमोदन करने मे पाच अन्य न्यायाधीशो के साथ थे। यह भी नोट करना अच्छा होगा कि इन सशोधनो को ससद के दोनो सदनो मे लगभग सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त हुआ था और इस प्रकार उनके लिए यह

सवश्रेष्ठ रूप से दावा किया जा सकता है कि वे जनता की इच्छा अभिव्यक्त करते हैं। इस मामले म यह बात किसी प्रकार असगत नही है।[1]

इसके अतिरिक्त, अभी हाल मे तीन महत्वपूण मामला म न्यायाधीश राय एसे फैसलो म शामिल थे जो सीधे सरकार के खिलाफ गये। न्यूज प्रिंट (अखबारी कागज) पर नियत्रण के मामले मे न्यायाधीश राय न्यायालय के बहुमत के साथ थे जिसने उस आदेश को रद्द किया। बहुत हाल मे आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था कानून की धारा १७-क की वधता के मामले म न्यायाधीश राय उस बेंच के सदस्य थे जिसने उसको अवैध घोषित किया। सम्पत्ति-कर के मामले म वह उस बहुमत के विरुद्ध थे जिसने कानून को वैध ठहराया।

तब इस मामल का सार क्या है?

पहली बात यह कि जनतात्रिक व्यवस्था के उचित रूप से काम करने के लिए यह कोई अनिवाय पूव शत नही है कि मुख्य न्यायाधिपति का वरीयता के आधार पर नियुक्त किया जाय, बल्कि इसके विपरीत एसी प्रथा मे हानिकारक परिणाम ही हो सकते हैं।

दूसरी बात यह कि जनतात्रिक व्यवस्था के उचित रूप से काम करने के लिए यह कोई अनिवाय पूव शत नही है कि कोई न्यायाधीश अपनी नियुक्ति से पहले तक राजनीतिक विचारो या विश्वासो मे अबोध हो—अगर ऐसा व्यक्ति खोज निकालना सम्भव हो तब भी।

तीसरी बात यह कि सावजनिक मामलो का कुछ ज्ञान या उन व्यापकतर विचारो का ज्ञान जो करोडो के दिनो दिमाग को आदोलित करते है देश के उच्चतम न्यायालय मे नियुक्ति के लिए एक महत्वपूण योग्यता है।

चौथी बात यह कि जिस व्यक्ति को उस समय की सरकार देश के सर्वोच्च न्यायिक पद पर बैठने के लिए अपनी नजर म सबसे अधिक योग्य समझती है उसको नियुक्त करना और उसके दशन तथा जीवन सम्बधी दृष्टिकोण पर विचार कर उसका भी ध्यान रखना सवथा सरकार के अपने विवक का अग है।

पाचवी बात यह कि किसी न्यायालय के काम करने की अत्यन्त महत्वपूण

१ मतदान इस प्रकार था

	लोक सभा हा	लोक सभा नहीं	राज्य सभा हा	राज्य सभा नहीं
२४वा सशोधन	३८८	२३	१७७	८
२५वा सशोधन	३५३	२०	१६६	२०
२६वा सशोधन	३८१	६	१६७	७
२६वां सशोधन	३११	शून्य	१७०	शून्य

विशेषता होनी चाहिए कानून के प्रमुख और जीवन्त प्रश्नों के मामले में सुनिश्चितता और स्थायित्व।

जब मौजूदा मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के विषय में वाद विवाद का तूफान थम जायगा तब मुझे कोई सन्देह नहीं है कि एक स्पष्टत गलत प्रथा और अमल से हटने का यह पहला उदाहरण भारतीय न्यायालयों के इतिहास में एक मार्ग चिह्न माना जायगा। फिर भी विवाद की प्रवृत्ति से ही सम्भवत इस प्रश्न से सम्बन्धित मामलों की जानकारी फैली। कारण कि यह बात अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस मामले में इस समय जो तर्क वितर्क और मनोभाव उभर रहे हैं उनका बहुत कुछ आधार यह है कि सम्बन्धित मुख्य मसले को जितनी गहराई से समझा जाना चाहिए, उसका नितान्त अभाव है (शायद उसका अध्ययन तक करने से इनकार किया जा रहा है)।

९. उपसंहार

यह पुस्तक जिस समय प्रेस म गयी, उस समय के बाद से ए एन राय को मुख्य यायाधिपति नियुक्त किये जाने के विरुद्ध निहित स्वार्थों की ओर स चौतरफा सगठित अभियान खडा किया गया है। इस अभियान के अगुआ उनके सबसे अग्रगण्य प्रवक्ता एन ए पालकीवाला हैं। यह कोई आकस्मिक बात नहीं कि बक राष्ट्रीयकरण के मामले म वह बक मालिकों के, प्रिवी पर्सों के मामले मे रजवाडा के, और सबमे ताजा सविधान सशोधन के मामले मे जमीदारा के वकील थे।

इस अभियान का निर्माण करने म स्वभावत इन निहित स्वार्थों ने सामा यत सरकार द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण को, और विशेषकर मेरे दृष्टिकोण को, तोड मरोड कर पेश करने का भरपूर प्रयत्न किया है।

पालकीवाला ने दलील दी है कि "सविधान चूकि एक प्राणवन्त जीवी है अत उसका अपना दशन है। यायाधीश सविधान और कानून की रक्षा करने की शपथ लेता है। अगर शासक पार्टी का दशन सविधान के दशन के विरुद्ध है तो उसे कौन से दशन की रक्षा करनी चाहिए?" (इडियन एक्सप्रेस, १४ ५ १९७३)।

जैसा कि इस पुस्तक के अध्याय ६ म विश्लेषित यायाधीश हेगडे और यायाधीश राय के फैसला के उद्धरण से स्पष्ट है, जहा दोना यायाधीश

सविधान और कानूना के प्रति अपनी वफादारी की शपथ का पालन करने म ईमानदार से अधिक ही कुछ है, वहा उन दानो के बीच इस बात पर बुनियादी मतभेद ह कि सविधान का ठीक ठीक दशन क्या है। हगड के अनुसार ससद अपने २/३ बहुमत स भी जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति करती नही मानी जा सकती। राय का दृष्टिकोण इसका ठीक उल्टा है।

हेगडे के लिए अधिग्रहीत सम्पत्ति के प्रतिकर (मुआवजे) का प्रश्न अभी भी "उस राशि' को निश्चित करन म अपनाय गय सिद्धान्ता की तात्विक सगति के मामले को लेकर न्यायिक पुनरीक्षण का प्रश्न हो सकता है, राय का मत है कि यह मामला वैधानिक नीति का है और न्यायिक पुनरीक्षण की परिधि के बाहर है।

हगडे समझते हैं कि अनुच्छेद ३१ ग द्वारा जिस प्रकार निदेशक सिद्धान्ता को मूल अधिकारा से ऊपर रखा गया है, उसका अथ हागा सविधान का अत और उन्होंने यह शब्दावली इस्तमाल की है कि, 'यह सविधान स पूरी तरह बेमेल है।" राय का मत है कि कोई निदशक सिद्धान्त मूल अधिकारो से ऊपर रखा जाना चाहिए या नही यह मामला वैधानिक नीति और विवक का है तथा एसा मामला है जिसका फैसला ससद को ही करना चाहिए।

इस प्रकार यहा प्रश्न शासक पार्टी के दशन का ध्यान रखने का नहीं है बल्कि स्वय न्यायाधीश के अभिगम का ध्यान रखन का प्रश्न है।

रूजवल्ट न इस शब्दावली का इस्तमाल किया था कि वह न्यायालय म एसे सदस्य नियुक्त करेंगे 'जो आधुनिक परिस्थितियो को समझते हैं जो वैधानिक नोति पर ससद (काग्रेस) के फैसला के विरुद्ध व्यवस्था दने का प्रयत्न नहीं करेंगे जो न्यायाधीशा की तरह काम करेंगे, कानून निर्माताओ (ससद सदस्यों) की तरह नही। (मार्च १९३७)।

इसलिए समस्या का सार यह है कि क्या सविधान का दशन वैधानिक नीति के मामल म ससद का सर्वोच्च मानन की व्यवस्था करता है या कि न्यायाधीश स्वय अपनी नीतिया को, जनता के लिए क्या भला है या क्या बुरा इसके बार म अपनी समझ को ससद पर लाद सकत है।

गोलकनाथ के मुकदम के बाद छै वष तक न्यायालय म जिस बात पर सघष चलता रहा वह दरअसल इसी प्रश्न पर केंद्रित था यानी कि एक ओर ससद और दूसरी ओर न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र पर। स्पष्टत इस मामले मे जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हू, एक न्यायाधीश और दूसर न्यायाधीश के बीच मतभेद रह हैं।

कोई व्यक्ति एसा न्यायाधीश नहीं चाहता जो 'कायपालिका के लिए अनुकूल' बैठे, जसा कि पालकीवाला न आरोप लगाया है। एक बार फिर

रूजवेल्ट के शब्दों को दोहराये तो "हम 'रीढहीन सगठन' नहीं चाहते जो कानून की अवहेलना करें और जो खास मामलो को उस प्रकार तै करें जैसा कि मैं उनसे तै कराना चाहता हू।' हम स्वतन्त्र सशक्त न्यायाधीश चाहते हैं, जो हमारे सविधान की व्यवस्थाओ के अनुरूप अपने उच्च न्यायिक अधिकार का उपयोग करेंगे जिसके कि वे अधिकारी बनाये गये हैं। लेकिन हम ऐसे न्यायाधीश नही चाहते जो सविधान के दर्शन की अपनी समझदारी का बहाना बना कर वास्तव मे कानून बनाने का काम करते हैं सविधान से ऊपर बैठते है—उससे नीचे नहीं। यही निर्णायक अन्तर है।

पालखीवाला ने सरकार के प्रवक्ताओ के मुह से यह दलील दिलवायी है कि हम ऐसा मुख्य न्यायाधिपति चाहते है जो "ससद की परम प्रभुसत्ता और उसके असीमित अधिकारों मे विश्वास रखता हो।" यह हास्यास्पद है। एक लिखित सविधान के मातहत "परम प्रभुसत्ता" का कोई प्रश्न ही नही हो सकता। ससद की प्रभुसत्ता इन बातो से सीमित है (१) मूल अधिकार, (२) सविधान की अन्य व्यवस्थाओ के साथ अनुरूपता, (३) राज्यो के विधानमण्डलो और ससद के बीच अधिकारो का बटवारा।

और सरकार की ओर से कोई भी कभी ससद की परम प्रभुसत्ता के लिए नही झगडा है। किन्तु हमने यह दावा जरूर किया था कि अनुच्छेद ३६८ द्वारा प्रदत्त अधिकार से सविधान को ससद, जिस तरह भी वह जनता के हितो मे समझे, सशोधित कर सकती है, बशर्ते कि वह उस अनुच्छेद मे निर्धारित क्रिया-विधि का सख्ती मे पालन करे, अर्थात ससद सदस्यो म से आधे से अधिक उपस्थिति हो और इन उपस्थित सदस्यो मे से दो तिहाई सशोधन के पक्ष मे वोट दें तथा कुछ अनुच्छेदो के मामले म, राज्यो के विधानमण्डलो का बहुमत सशोधन का अनुमोदन करे।

स्वभावतया अधिकाश आलोचना सरकार की यह स्थिति बता कर की जाती है कि वह "बद्ध" या "प्रतिबद्ध न्यायपालिका" मे विश्वास करती है, यह आरोप विरोधी दलो के नेताओ द्वारा राष्ट्रपति को दिये गये स्मृतिपत्र (मैमोरेंडम) मे भी मौजूद है। यह भी सरकार की स्थिति का जानबूझ कर और सचेत रूप से तोड मरोड कर पेश करना है। ससद मे बोलते हुए मैंने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि हम "प्रतिबद्ध न्यायपालिका" के समर्थक नही है, मगर हमारा विचार है कि हमे यह निर्णय करते समय कि कोई न्यायाधीश देश की सर्वोच्च अदालत का प्रधान होने के यानी उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति होने के, योग्य है या नही उसके दर्शन पर विचार करने का अधिकार है। और म अध्याय ६ म इस न्यायालय के दो न्यायाधीशो के मतभेदो का उदाहरण दे चुका हू जिनसे पता चलता है कि उनके 'दर्शन" कितने भिन्न

है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि न्यायाधीश का न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का प्रहरी होने का साहस हो और उसमें प्रशासनिक क्षमता भी हो। ये ऐसे तत्व हैं जिनका यह फैसला करने में कि कोई न्यायाधीश उच्च नियुक्ति के उपयुक्त है या नहीं, ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

पालकीवाला चाहते हैं कि सरकार को "ऐसे न्यायाधीशों को जो शासक पार्टी के दर्शन का पालन करते हों, नियुक्त करने की नीति को अविलम्ब रूप से त्याग देना चाहिए।" किसी ने कभी यह नहीं कहा कि सरकार ऐसे न्यायाधीश चाहती है जो पार्टी के दर्शन के अनुयायी हों और यह सरकार की नीति भी नहीं है। किन्तु हमें न्यायाधीशों के दर्शन पर विचार करने का अधिकार है—पार्टी के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि उनके कर्तव्यों की व्याख्या और संविधान के विषय में उनकी समझदारी के दृष्टिकोण से।

मैं इस से बेहतर सिफारिश नहीं कर सकता कि पालकीवाला रूजवेल्ट का भाषण पढ़ें, जिसका एक लम्बा उद्धरण इस पुस्तक के पृष्ठ ४६ पर दिया गया है। सरकार की स्थिति सबसे तीखे और सुस्पष्टतम रूप में इसी में प्रकट होती है कि एक न्यायाधीश का दर्शन क्या है, इसका फैसला करते समय हमारे दिमाग में क्या हो सकता है और क्या होना चाहिए, प्रश्न यह नहीं है कि न्यायाधीश शासक पार्टी के दर्शन का अनुयायी हो। यह संसद की श्रेष्ठता में विश्वास की बात है। यह जनता के प्रतिनिधि के रूप में संसद की श्रेष्ठता में और अनुच्छेद ३६८ में बतायी गयी विधि का पालन कर संविधान संशोधित करने में संसद की श्रेष्ठता में जो—स्वतन्त्र पार्टी और जनसंघ का छोड़ कर—हमारे देश में प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का आस्था-सूत्र है विश्वास की बात है।

यही इस वाद विवाद का मर्मस्थल है और यह अधिक ईमानदारी तथा न्याय की बात होगी कि इस विवाद के कर्णधार इस तथ्य को निष्पक्षता और ईमानदारी से स्वीकार कर लें।

परिशिष्ट-१

फैसला करने म यायाधीश को जो विभिन्न तत्त्व प्रभावित करते हैं, उनका बडा शानदार विश्लेषण न्यायाधीश कार्डोजो के दो आलेख खण्डो मे दिया गया है, जिनको नीचे दिया जा रहा है।

१

मैं जा विश्लेषण करने जा रहा हू, इस प्रयत्न मे चेतन और उपचेतन म भेद करने की आवश्यकता है। मेरा यह तात्पर्य नही कि मैं जिन विचारो और इरादो को पहली श्रेणी म रखूगा वे सदा चेतना मे स्पष्ट रूप से उपस्थित रहते ह ताकि उनको पहचाना जा सके और देख कर बताया जा सके। अक्सर ही वे सतह के आसपास मडराते हैं। किन्तु उनको तुलनात्मक तत्परता के साथ अलग और आबद्ध किया जा सकता है तथा इस प्रकार जब उनका नामकरण कर दिया जाता है तब उनको आचार विचार का निदर्शन करने वाले सिद्धान्तो के रूप म शीघ्र स्वीकार कर लिया जाता है। सतह के बहुत नीचे जो शक्तिया होती हैं वे इतनी सूक्ष्म रहती ह कि उनको उपचेतन के अतिरिक्त और किसी रूप मे न्यायपूर्वक श्रेणीबद्ध नही किया जा सकता। अक्सर इन्ही उपचेतन शक्तियो के कारण न्यायाधीश अपने प्रति सुसगत और एक दूसरे से विसगत रहते हैं। हमे फलवाद (प्रैगमैटिज्म) पर दिये गये एक व्याख्यान के महत्वपूर्ण पृष्ठ पर विलियम जेम्स स्मरण कराते ह कि हम सब म वास्तव म एक निहित जीवन-दर्शन होता है—उन तक म जिनको दर्शन के नाम और अवधारणाए मालूम तक नही है या जो उनको एक अभिशाप समझते हैं। हम सब मे एक प्रवृत्ति धारा होती है, उसे आप दर्शन कह या न कहें जो विचारो और क्रिया-कलापो को एक सगति और दिशा प्रदान करती है—न्यायाधीश भी अन्य प्राणियो की भाति उस धारा म बच नही सकते। सारी जिन्दगी ऐसी शक्तिया उनके साथ खीच-तान करती रहती हैं जिन्हे वे पहचानते नही और जिनका वे नाम नही दे सकते—जैसे विरासत म मिली मनोवृत्तिया, परम्परागत विश्वास, अर्जित आस्थाए, और इन सबका परिणाम होता है जीवन

सम्बन्धी एक दृष्टि, सामाजिक आवश्यकताओं की एक अवधारणा, एक भावना, जिसे जेम्स के शब्दों में "ब्रह्माण्ड का सर्वांग बल प्रयोग और दबाव" कहते हैं, जो उस समय जब कि तक सुचारु रूप से सतुलित किये जाते हैं यह निर्धारित करते हैं कि चयन क्या होगा। इस मानसिक पृष्ठभूमि में प्रत्येक समस्या को अपना परिदृश्य प्राप्त होता है। हम चीजों को जितना भी मन चाहे वस्तुनिष्ठ रूप से देखने का प्रयत्न करें, तब भी उन्हें हम स्वय अपनी आखों के अलावा किन्ही दूसरी आखों से नहीं देख सकते। इसी कसौटी पर वे सब चीजें आती हैं—वकालत का कोई रूप या ससद का कोई कानून, दरिद्रों के अन्याय या राजाओं के अधिकार, एक ग्रामीण अध्यादेश या राष्ट्र का चार्टर। (पृष्ठ ११-१२)।

२

इसलिए मेरा इस विचार से कोई झगडा नहीं है कि न्यायाधीशों को अपने समय के तकाजे के साथ हमदर्दी रखनी चाहिए। अफसोस! इस आम स्थापना की स्वीकृति भी हमें सत्य के मार्ग पर बहुत आगे नहीं ले जाती। हर न्यायालय में 'सत्य' के उतने मूल्याकन होने की सम्भावना है जितने उसकी बेंच पर न्यायाधीश होंगे। मैं जितने न्यायाधीशों को जानता हूँ उनमें किसी भी तरह की नीचता, कुरुचि और पापपूर्ण अर्थ में मैंने अहसान जताने या पूर्वग्रह रखने का कोई चिह्न—लेशमात्र चिह्न तक—नहीं पाया लेकिन हर दिन मुझे हमारे बाहर के सत्य और हमारे अन्दर के सत्य के बीच ऐसे सम्बध के, जिससे हम बच नहीं सकते एक नये विश्वास का बोध हुआ। युग की आत्मा का हम सबको जिस तरह बोध होता है उसमें अक्सर ही सिर्फ समूह की आत्मा होती है जिसमें जन्म या शिक्षा या पेशा या सग साथ के सयोग से हमें स्थान मिलता है। मस्तिष्क के किसी प्रयत्न या क्राति से इन उपचेतन वफादारियों के साम्राज्य का पूरी तरह और सदा के लिए उन्मूलन नहीं हो सकता है। जेम्स हारवे रॉबिन्सन का कथन है, "हमारी आस्थाएं और मत, हमारे आचरण के प्रतिमानों की तरह ही हम अनजाने ही अपने साथी इन्सानों के सग साथ की उपज के रूप में प्राप्त होते हैं, हमारे व्यक्तिगत अनुभव के परिणामस्वरूप नहीं, और उन निष्कर्षों से प्राप्त होते हैं जिन पर हम स्वय अपने अन्वेक्षण से व्यक्तिगत रूप से पहुचते हैं। हम 'यौक्तिकीकरण' (रेशनलाइजिंग) की अपनी असाधारण प्रनाशक्ति द्वारा लगातार

भरमाय जाते हैं—यानी कि हम जिस समूह के सदस्य होते है, उसकी परम्पराओ द्वारा जो कुछ हमारे ऊपर मढा जाता है, उसको स्वीकार करने के लिए हम कौशलपूर्ण तर्क गढ लेते है। हम प्रकृति से नितान्त विश्वासी होते है और समूह के निर्णयो को सहज-वृत्ति-वश स्वीकार कर लेते है। हम केवल उत्तेजित भीड या जोशीले पुनरुत्थान के जादुई प्रभाववश ही सुझावग्राही नही होते, बल्कि हम समूह की और भी बारीक आवाज को सदा और हर समय सुनते रहते है तथा उसकी हिदायतो और चेतावनियो की हिमायत करने तथा उन्हे सही ठहराने के लिए सदा तैयार रहते हैं और उनको स्वय अपनी तर्क प्रणाली के परिपक्व परिणाम के रूप मे स्वीकार कर लेते है।" यह बात विशेष रूप से न्यायाधीशो के लिए नही, बल्कि सभी वर्गो के स्त्री-पुरुषो के लिए लिखी गयी थी। न्यायाधीश का प्रशिक्षण अगर उस वृत्ति से सपृक्त हो जिसको न्यायिक प्रकृति कहा जाता है, तो वह उसकी व्यक्तिगत अरुचियो और पूर्वधारणाओ की सुझाव शक्ति से मुक्त होने मे थोडी हद तक सहायता दे सकती है। इससे उस समूह को विस्तृत करने मे सहायता मिलेगी जिसके प्रति उसकी अचेतन वफादारियां अपेक्षित है। जब तक मानव प्रकृति जैसी है, वैसी ही रहती है तब तक ये वफादारियां कभी पूरी तरह मिटायी नही जा सकती। कभी कभी हम आश्चर्य कर सकते है कि व्यक्तिवाद की इन सभी शक्तियो के खिलवाड से कोई सगत बात—अराजकता और शून्य के अतिरिक्त कोई और बात—कैसे पैदा हो सकती है। ये वे क्षण होते हैं जिनमे हम भिन्नता के तत्वो को अतिरंजित करते हैं। अन्तत कोई ऐसी चीज उभरती है जिसमे एक समष्टिक आकार और सत्य तथा व्यवस्था होती है। (पृ १७४)।

[बेंजामिन एन कार्डोजो की पुस्तक "दि नेचर आफ दि जुडीशल प्रॉसेस" से]

●

और इसलिए यह कहना, तकनीकी दृष्टि से कितना ही सच हो, सतही बात होगी कि उदाहरणार्थ उच्चतम न्यायालय ने १९३५ में नव व्यवहार के रेलरोड अवकाश प्राप्ति कानून को असंवैधानिक घोषित कर दिया (जिसके अंतर्गत सभी रेल कम्पनियों को ६५ वर्ष से अधिक आयु के रेलरोड मजदूरों को पेंशन अदा करने के लिए एक अनिवार्य बीमा कोष में एक वार्षिक रकम देनी पड़ती)। यह कहना अधिक सही, अधिक सार्थक और अधिक रहस्योद्घाटक होगा कि उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों ने—जिनमें से एक ने ग्रेट नादर्न, नादर्न पैसिफिक, और शिकागो, बर्लिंगटन तथा क्विंसी रेलरोड कम्पनियों के वकील के रूप में जो न्यायिक प्रसिद्धि प्राप्त की, उसके कारण न्यायाधीश पद प्राप्त किया (बटलर), एक को ऊपर को धक्का देकर न्यायालय में पहुंचाया गया था, जिसका कारण था एटर्नी जनरल के पद पर रहते हुए उसका झगड़ालूपन जिसमें इजारेदारी बढ़ाने के अभियोग में न्यूयार्क, न्यू हेवन और हार्टफोर्ड रेलरोड पर मुकदमा चलाने में उनकी हिचक भी शामिल थी (मैक्रेनोल्ड्स) एक ने सरकार के सामने और बाहर यूनियन पैसिफिक रेलरोड कम्पनी का प्रतिनिधित्व कर अपने लिए नाम कमाया और थोड़ी दौलत भी जमा कर ली थी (वान डेवान्टर), एक न्यायाधीश सीनेटर हार्डिंग नाम के एक सज्जन के सीनेट में मित्र थे जिन्होंने बाद में राष्ट्रपति बन जाने पर उनको न्यायालय में नियुक्त कर दिया जब उटाह के मतदाताओं ने उनको रेलरोड कम्पनियों समेत अनेक कम्पनियों की ओर से सीनेट में उनकी प्रतिक्रियावादी कारवाइयों के कारण पुनः निर्वाचित करने से इनकार कर दिया था (सदरलैंड), तथा एक और न्यायाधीश जब फिलाडेल्फिया में वकील थे तब पनसिलवानिया रेलरोड कम्पनी और उससे सम्बन्धित फर्मों समेत अनेक बड़ी बड़ी कम्पनियां उनकी मुवक्किल थीं (रॉबर्ट्स), इन पांच न्यायाधीशों ने—अपने चार योग्यतर सहयोगियों (ह्यूजेस, ब्रांडेइस, कार्डोज़ो, और स्टोन जिन्होंने असहमति प्रकट की थी) को मात दे कर हरा दिया और इस प्रकार कांग्रेस (संसद) की इच्छा, प्रशासन की इच्छा और स्वभावतः देश की जनता की इच्छा को नकार दिया तथा साथ ही, बहरहाल बिल्कुल संयोगवश, रेलरोड कम्पनियों का पैसा बचा लिया। अपने अर्थ और इरादा में यह मामला जितना सुस्पष्ट है उतने स्पष्ट रूप से उच्चतम न्यायालय के सभी संवैधानिक फैसलों की व्याख्या करना

आसान नही है। मगर उनम से किसी भी फैसले की व्याख्या या विश्लेषण या समझ, न्यायाधीशो के रूप के बजाय, उन इसानो के रूप के बजाय कि जिनमे वे बने थे, किसी भी विल्कुल सतही, कानूनी स्तर के आधार पर प्राप्त नही की जा सकती।

[फ्रेड रोडेल की पुस्तक 'नाइन मेन ए पालिटिकल हिस्ट्री आफ दि सुप्रीम कोट फ्राम १७६० टु १६८५" (नौ इसान १७६० म १६५८ तक उच्चतम न्यायालय का एक राजनीतिक इतिहास') स, पृष्ठ ३० ३१]



परिशिष्ट-३

भारत के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति

(१९५०-१९७३)

	न्यायाधीश	सेवा की अवधि	कुल कार्य काल
१	हीरालाल कानिया	२६ १ १९४९ से ६ ११-१९५१	१ वर्ष ९ महीने और १२ दिन
२	पतंजलि शास्त्री	७ ११ १९५१ से ३ १ १९५४	२ वर्ष १ महीना और २७ दिन
३	मेहरचन्द महाजन	४ १ १९५४ से २२ १२-१९५४	११ महीने और २० दिन
४	विजन कुमार मुखर्जी	२३ १२ १९५४ से १ २ १९५६	१ वर्ष १ महीना और १० दिन
५	सुधि रंजन दास	१ २ १९५६ से १ ९-१९५९	३ वर्ष ७ महीने और १ दिन
६	भुवनेश्वर प्रसाद सिंहा	१ ९ १९५९ से ३१ १ १९६४	४ वर्ष और ५ महीने
७	पी बी गजेन्द्रगडकर	१ २ १९६४ से १५ ३ १९६६	२ वर्ष १ महीना और १४ दिन
८	ए के सरकार	१६ ३ १९६६ से २९ ६ १९६६	३ महीने और १४ दिन
९	के सुब्बाराव	३० ६ १९६६ से ११ ४ १९६७	९ महीने और १२ दिन
१०	के एन वांचू	११ ४ १९६७ से २४-२ १९६८	१० महीने और १४ दिन
११	एम हिदायतुल्ला	२५ २ १९६८ से १६ १२ १९७०	२ वर्ष ९ महीने और २१ दिन
१२	जे सी शाह	१७ १२ १९७० से २१ १ १९७१	१ महीना और ६ दिन
१३	एम एम सीकरी	२२ १ १९७१ से २५ ४ १९७३	२ वर्ष ३ महीने और ५ दिन
१४	ए एन राय	२६ ४ १९७३ से आज तक	

परिशिष्ट-५

इगलैण्ड के मुख्य न्यायाधिपति

(१९०१-१९७३)

	न्यायाधीश	सेवा की अवधि	कुल कार्य-काल
१	लाड एल्वरर्टान	१९०१ १९१३	१२ वप
२	लाड रीडिंग	१९१४ १९२०	६ वप
३	ए टी ट्रॉरेन्स (लाड ट्रेवथिन)[1]	१९२१ १९२२	१ वप
४	लाड ह्वट	१९२२ १९४०	१८ वप
५	वाइकाउट काल्डेकोट	१९४१ १९४५	४ वप
६	लाड गोडड	१९४६-१९५८	१२ वप
७	लॉड पाकर	१९५९ १९७१	१२ वप
८	लाड विड्ग्रे	१९७१ स आज तक	

१ लार्ड ट्रेवेथिन के लघु कार्य काल का कारण पृष्ठ ३३ पर दिया गया है

परिशिष्ट-६

कनाडा के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति
(१८००-१८७३)

	न्यायाधीश	सेवा की अवधि	कुल कार्य-काल
१	सर हेनरी स्ट्राग	-१८०२	—
२	सर हनरी एलजीयर ताश्खेरिया	१८०२ १८०६	४ वष
३	चाल्स फिटजपैट्रिक	१८०६ १८१८	१३ वष
४	सर लुई हनरी डेविस	१८२० १८२४	४ वष
५	सर फ्रासिस अलेक्जेंडर एगलिन	१८२५ १८३३	८ वष
६	राइट आनरेवल लिमन पूर डफ	१८३४ १८४४	१० वष
७	थिवोडयू रिनफ्रेट	१८४५ १८५५	१० वष
८	पैट्रिक केरविन	१८५६-१८६३	७ वष
८	राबट ताश्खेरियो पी सी	१८६४ १८६७	३ वष
१०	जान रॉबट कार्टराइट	१८६८ स आज तक	

परिशिष्ट-७

आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति (१९०३-१९७३)

न्यायाधीश	सेवा की अवधि	न्यायालय मे आयु	राज्य	पिछला राजनीतिक अनुभव: उपनिवेशो और राज्य स्थिति मे	पिछला राजनीतिक अनुभव: राष्ट्रमण्डल के देश के रूप मे
१ ग्रिफिथ, मु न्या	१९०३ १९१९	५८ ७४	क्वीसलण्ड	एम एल ए[1] मत्री मुख्य न्यायाधिपति राज्यपाल	
२ नॉक्स, मु न्या	१९१९ ३०	५५ ६६	यू साउथ वेल्स	एम एल ए	
३ आइजक्स, न्या और मु न्या	१९०६ ३० (मु न्या १९३०)	५१ ७५	विक्टोरिया	एम एल ए मत्री	एम एच आर[2] मत्री
४ गावन डफी, न्या और मु न्या	१९१३ ३६ (मु न्या १९३१)	६१ ८४	विक्टोरिया	—	—
५ लथम, मु न्या	१९३५ ५२	५८ ७५	विक्टोरिया	—	एम एच आर मत्री
६ डिक्सन, न्या और मु न्या	१९२९ ६४ (मु न्या १९५२)	४३ ७७	विक्टोरिया	—	—
७ बारविक, मु न्या	१९६४	६०	यू साउथ वेल्स	—	एम एच आर मत्री

१ एम एल ए—विधान सभा के सदस्य (राज्य विधान सभा के)

२ एम एच आर—हाउस ऑफ रिप्रजेंटेटिव्स (राष्ट्रमण्डल ससद) के सदस्य